

अकलङ्कग्रन्थत्रय और उसके कर्ता

ग्रन्थकार आचार्य अकलङ्कदेव

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवकी जीवनगाथा न तो उन्होंने स्वयं ही लिखी है और न तन्निकटसमयवर्ती किन्हीं दूसरे आचार्योंने ही। उपलब्ध कथाकोशोंमें सबसे पुराने हरिषेणकृत कथाकोशमें समन्तभद्र और अकलंक जैसे युगप्रधान आचार्योंकी कथाएँ ही नहीं हैं। हरिषेणने स्वयं अपने कथाकोशका समाप्तिकाल शकसंवत् ८५३ (ई० ९४१) लिखा है। प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें अकलंककी कथा मिलती है। पं० नाथूरामजी प्रेमी इसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवीं सदी अनुमान करते हैं। प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशकी ही ब्रह्मचारी नेमिदत्तने विक्रमसंवत् १५७५के आसपास पद्यरूपमें परिवर्तित किया है। देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाकी 'राजावलीकथे' में भी अकलंककी कथा है। इसका रचनाकाल १६वीं सदीके बाद है। इस तरह कथाग्रन्थोंमें चौदहवीं सदीसे पहिलेका कोई कथाग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें अकलंकका चरित्र तो क्या निर्देश तक भी हो। अकलंकदेवके ६०० वर्ष बादकी इन कथाओंका इतिवृत्तज्ञ विद्वान् पूरे-पूरे रूपमें अनुसरण नहीं करते हैं। इनके सिवाय अकलंकके शास्त्रार्थका उल्लेख मल्लिषेणप्रशस्तिमें है। यह प्रशस्ति विक्रमसंवत् ११८५में लिखी गई थी। अकलंकके पिताका नाम राजवार्तिक प्रथमाध्यायके अन्तमें आए हुए 'जीयाच्चिर' श्लोकमें 'लघुहव्व' लिखा हुआ है। इस तरह अकलंकके जीवनवृत्तकी सामग्री नहीं बत है। जो है भी वह इतनी बाद की है कि उसपर अन्य प्रबल साधक प्रमाणोंके अभावमें सहसा जोर नहीं दिया जा सकता।

पं० नाथूरामजी प्रेमीने कथाकोश आदिके आधारसे जैनहितैषी (भाग ११ अंक ७-८) में अकलंक-देवका जीवन वृत्तान्त लिखा है। उसीके आधारसे न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनामें भी बहुत कुछ लिखा गया है। यहाँ मैं उसका पिष्टपेषण न करके सिर्फ उन्हीं मुद्दोंपर कुछ विचार प्रकट करूँगा, जिनके विषयमें अभी कुछ नया जाना गया है तथा अनुमान करनेके लिए प्रेरकसामग्री संकलित की जा सकी है। खासकर समय-निर्णयार्थ कुछ आभ्यन्तर सामग्री उपस्थित करना ही इस समय मुख्यरूपसे प्रस्तुत है; क्योंकि इस दिशामें जैसी गंजाइश है वैसे प्रयत्न नहीं हुआ।

१. जन्मभूमि-पितृकुल

प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोश तथा उसीके परिवर्तितरूप ब्रह्मचारी नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशके लेखानुसार अकलंकका जन्मस्थान मान्यखेट नगरी है। वे वहाँके राजा शुभतुंगके मन्त्री पुरुषोत्तमके ज्येष्ठ पुत्र थे। श्री देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाके राजावलीकथे नामक ग्रन्थमें उन्हें काञ्चीके जिनदास ब्राह्मणका पुत्र बताया है। इनकी माताका नाम जिनमती था। तीसरा उल्लेख राजवार्तिकके प्रथम अध्यायके अन्तमें पाया जाने वाला यह श्लोक है—

“जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्वनूपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलजननुत्तविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥”

इस श्लोकके अनुसार वे लघुहव्व राजाके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र थे। विद्वानोंकी आजतककी पर्यालोचनासे ज्ञात होता है कि वे राजावलीकथेका वर्णन प्रमाणकोटिमें नहीं मानते और कथाकोशके वर्णनकी अपेक्षा उनका झुकाव राजवार्तिकके श्लोककी ओर अधिक दिखाई देता है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि—लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। राष्ट्रकूटवंशीय इन्द्रराज-द्वितीय तथा कृष्णराजप्रथम भाई-भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्गद्वितीय अपने पिताकी मृत्युके बाद राज्याधिकारी हुआ। कर्नाटक प्रान्तमें पिताको अब्ब या अप्प शब्दसे कहते हैं। सम्भव है कि दन्तिदुर्ग अपने

२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

चाचा कृष्णराजको भी अब्ब शब्दसे कहता हो । यह तो एक साधारण-सा नियम है कि जिसे राजा 'अब्व' कहता हो, उसे प्रजा भी 'अब्व' शब्दसे ही कहेगी । कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभतुंग था, दन्तिदुर्गके बाद राज्याधिकारी हुआ । मालूम होता है कि—पुरुषोत्तम कृष्णराजके प्रथमसे ही लघु सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग एवं प्रजाजन इनको 'लघु अब्व' शब्दसे कहते होंगे । बादमें कृष्णराजके राज्यकालमें ये कृष्णराजके मंत्री बने होंगे । कृष्णराज अपनी परिणत अवस्थामें राज्याधिकारी हुए थे । इसलिये यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है कि—पुरुषोत्तमकी अवस्था भी करीब-करीब उतनी ही होगी और ज्येष्ठ पुत्र अकलंक दन्तिदुर्गकी सभामें, जिनका उपनाम 'साहसतुंग' कहा जाता है, अपने हिमशीतलकी सभामें होनेवाले शास्त्रार्थकी बात कहे । पुरुषोत्तमका 'लघुअब्व' नाम इतना रूढ़ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुषोत्तमकी अपेक्षा प्रसिद्ध नाम 'लघुअब्व' अधिक पसन्द करते होंगे । यदि राजवार्तिकवाला श्लोक अकलंक या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्यका है तो उसमें पुरुषोत्तमकी जगह 'लघुअब्व' नाम आना स्वाभाविक ही है । 'लघुअब्व' एक ताल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे हो और इसीलिए वे भी नृपति कहे जाते थे । अकलंक उनके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र या श्रेष्ठ पुत्र थे ।

यद्यपि अभी तक इतिहाससे यह मालूम हो सका है कि—मान्यखेट राजधानीकी प्रतिष्ठा महाराज अमोघवर्षने की थी । पर इसमें सभी ऐतिहासिक विद्वानोंका एकमत नहीं है । यह तो सम्भव है कि अमोघवर्षने इसका जीर्णोद्धार करके पुनः प्रतिष्ठा की हो, क्योंकि अमोघवर्षके पहिले भी 'मान्यपुर, मान्यान्' आदि उल्लेख मिलते हैं । अथवा यह मान भी लिया जाय कि अमोघवर्षने ही मान्यखेटको प्रतिष्ठित किया था । तब भी इससे कथाकोशकी बातें सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं । इससे तो इतना ही कहा जा सकता है कि—कथाकोशकारके समयमें राष्ट्रकूटवंशीय राजाओंकी राजधानी आमतौरसे मान्यखेट प्रसिद्ध थी और इसीलिये कथाकोशकारने शुभतुंगकी राजधानी भी मान्यखेट लिख दी है ।

यदि पुरुषोत्तम और लघुअब्वके एक ही व्यक्ति होनेका अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलंक-देवकी जन्मभूमि मान्यखेटके ही आस पास होगी तथा पिताका असली नाम पुरुषोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअब्व' होगा । 'लघुअब्व' की जगह 'लघुहव्व' का होना तो उच्चारणकी विविधता और प्रति के लेखन-वैचित्र्यका फल है ।

२. समय विचार

अकलंकके समयके विषयमें मुख्यतया दो मत हैं । पहिला स्वर्गीय डॉ० के० बी० पाठकका और दूसरा प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री तथा पं० जुगलकिशोर मुख्तारका । डॉ० पाठक मल्लिखेणप्रशस्तिके 'राजन् साहसतुंग' श्लोकके आधारसे इन्हें राष्ट्रकूटवंशीय राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथमका समकालीन मानते हैं, और अकलंकचरितके—“विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि । कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥” इस श्लोकके 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्दका शकसंवत् अर्थ करते हैं । अतः इनके मतानुसार अकलंकदेव शकसंवत् ७०० (ई० ७७८) में जीवित थे ।

दूसरे पक्षमें श्रीकण्ठशास्त्री तथा मुख्तारसां 'विक्रमार्कशकाब्द' का विक्रमसंवत् अर्थ करके अकलंक देवकी स्थिति विक्रम सं० ७०० (ई० ६४३) में बतलाते हैं ।

प्रथममतका समर्थन स्व० डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण तथा पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानोंने किया है । इसके समर्थनार्थ हरिवंशपुराण (१।३१) में अकलंकदेवका स्मरण, अकलंक द्वारा धर्मकीर्तिका खंडन तथा प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें अकलंकको शुभतुंगका मन्त्रिपुत्र बतलाया जाना आदि युक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं ।

दूसरे मतके समर्थक प्रो० ए० एन० उपाध्ये और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि हैं। इस मतके समर्थनार्थ वीरसेन द्वारा धवलाटीकामें राजवार्तिकके अवतरण लिये जाना, हरिभद्रके द्वारा 'अकलंक न्याय' शब्दका प्रयोग, सिद्धसेनगणिका सिद्धि-विनिश्चयवाला उल्लेख, जिनदासगणि महत्तर द्वारा निशीथचूर्णमें सिद्धिविनिश्चयका दर्शनप्रभावक शास्त्ररूपसे लिखा जाना आदि प्रमाण दिये गये हैं^१।

हमारी विचारसरणि—किसी एक आचार्यका या उसके ग्रन्थका अन्य आचार्य समकालीन होकर भी उल्लेख और समालोचन कर सकते हैं, और उत्तरकालीन होकर भी। पर इसमें हमें इस बातपर ध्यान रखना होगा कि उल्लेखादि करनेवाला आचार्य जैन है या जैनतर। अपने सम्प्रदायमें तो जब मामूलीसे थोड़ा भी अच्छा व्यक्ति, जिसकी प्रवृत्ति इतरमत निरसनके द्वारा मार्गप्रभावनाकी ओर अधिक होती है, बहुत जल्दी श्यात हो जाता है, तब असाधारण विद्वानोंकी तो बात ही क्या? स्वसम्प्रदायमें प्रसिद्धिके लिये अधिक समयकी आवश्यकता नहीं होती। अतः स्वसम्प्रदायके आचार्यों द्वारा पूर्वकालीन तथा समकालीन आचार्योंका उल्लेख किया जाना ठीक है। इतना ही नहीं; पर स्वसम्प्रदायमें तो किसी वृद्ध आचार्य द्वारा असाधारण-प्रतिभाशाली युवक आचार्यका भी उल्लेख होना सम्भव है। पर अन्य सम्प्रदायके आचार्यों द्वारा समालोचन या उल्लेख होने योग्य प्रसिद्धिके लिए कुछ समय अवश्य ही अपेक्षित होता है। क्योंकि १२-१३ सौ वर्ष पूर्वके साम्प्रदायिक वातावरणमें असाधारण प्रसिद्धिके बिना अन्य सम्प्रदायके आचार्योंपर इस प्रकारकी छाप नहीं पड़ सकती, जिससे वे उल्लेख करनेमें तथा समालोचन या अनुसरण करनेमें प्रवृत्त हों। अतः सम्प्रदायान्तरके उल्लेख या समालोचन करनेवाले आचार्यसे समालोच्य या उल्लेखनीय आचार्यके समयमें समकालीन होनेपर भी १५-२० वर्ष जितने समयका पौर्वापर्य मानना विशेष सयुक्तिक जान पड़ता है। यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं और मिलते भी हैं; पर साधारणतया यह प्रणाली सत्यमार्गोन्मुख होती है। दूसरे समानकालीन लेखकोंके द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामग्रीके अभावमें ग्रन्थोंके आन्तरिकपरीक्षणकी अधिक महत्त्व देना सत्यके अधिक निकट पहुँचनेका प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षणके सिवाय अन्य बाह्य साधनोंका उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं। मैं यहाँ इसी विचार पद्धतिके अनुसार विचार करूँगा।

अकलंकके ग्रन्थोंके आन्तरिक अवलोकनके आधारसे मेरा विचार स्पष्टरूपसे अकलंकके समयके विषयमें डॉ० पाठकके मतकी ओर ही अधिक झुकता है। हाँ, मेरी समर्थनपद्धति डॉ० पाठककी समर्थन पद्धतिसे भिन्न है। मैं पहले विरोधी मतकी उन एक दो खास युक्तियोंकी आलोचना करूँगा जिनके आधारपर उनका मत स्थिर है, फिर उन विचारोंकी विस्तारसे लिखूँगा जिनने मेरी मति डॉ० पाठकके मतसमर्थनकी ओर झुकाई।

आलोचना—(१) निशीथचूर्णमें सिद्धिविनिश्चयका दर्शनप्रभावकरूपसे उल्लेख है तो सही। यह भी ठीक है कि इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं, क्योंकि निशीथचूर्णके अन्तमें दी हुई गाथासे उनका नाम स्पष्टरूपसे निकल आता है। पर अभी इस चूर्णके रचनाकालका पूरा निश्चय नहीं है। यद्यपि नन्दीचूर्णकी प्राचीन और विश्वसनीय प्रतिमें उसका रचनासमय शक ५९८ (ई० ६७६) दिया है पर इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं यह अभी संदिग्ध है। इसके कारण ये हैं—

१—अभी तक परम्परागत प्रसिद्धि ही ऐसी चली आ रही है कि नन्दीचूर्ण जिनदासकी है, पर कोई

१. इन दोनों मतोंके समर्थनकी सभी युक्तियोंका विस्तृत संग्रह न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनामें देखना चाहिए।

४: डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

साधकप्रमाण नहीं मिला। भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिरके जैनागम कॅटलॉगमें प्रो० H. R. कापड़िया ने स्पष्ट लिखा है कि—नन्दीचूर्णिके कर्त्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है।

२—निशीथचूर्णिकी तरह नन्दीचूर्णिके अन्तमें जिनदासने अपना नाम नहीं दिया।

३—नन्दीचूर्णिके अन्तमें पाई जानेवाली—

“णारेण गामेत्त महासहा जिता, पसुयती संख जगद्धिताकुला।

कमद्धिता वीसंत चितितक्खरो फुडं कहेयं अभिहाणकम्मुणा ॥”

इस गाथाके अक्षरोंको लौट पलटनेपर भी ‘जिनदास’ नाम नहीं निकलता।

४—नन्द्यध्ययन टीकाके रचयिता आचार्य मलयगिरिको भी चूर्णिकारका नाम नहीं मालूम था; क्योंकि वे अपनी टीका^१ में पूर्वटीकाकार आचार्योंका स्मरण करने समय हरिभद्रसूरिका तो नाम लेकर स्मरण करते हैं जब कि हरिभद्रके द्वारा आधार रूपसे अवलम्बित चूर्णिके रचयिताका वे नामोल्लेख नहीं करके ‘तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु’ इतना लिखकर ही चुप हो जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि—आचार्य मलयगिरि चूर्णिकारके नामसे अपरिचित थे; अन्यथा वे हरिभद्रकी तरह चूर्णिकारका नाम लिये बिना नहीं रहते।

अतः जब नन्दीचूर्णिकी और निशीथचूर्णिकी एककर्तृकता ही अनिश्चित है तब नन्दीचूर्णिके समयसे निशीथचूर्णिके समयका निश्चय नहीं किया जा सकता। इस तरह अनिश्चितसमयवाला निशीथचूर्णिका सिद्धि-विनिश्चयवाला उल्लेख अकलंकका समय ई० ६७६ से पहिले ले जानेमें साधक नहीं हो सकता।

(२) अकलंकचरितके ‘विक्रमार्क शकाब्द’ वाले उल्लेखको हमें अन्य समर्थ प्रमाणोंके प्रकाशमें ही देखना तथा संगत करना होगा; क्योंकि अकलंकचरित १५वीं १६वीं शताब्दीका ग्रन्थ है। यह अकलंकसे करीब सात आठ सौ वर्ष बाद बनाया गया है। अकलंकचरितके कर्त्ताके सामने यह परम्परा रही होगी कि ‘संवत् ७०० में अकलंकका शास्त्रार्थ हुआ था’; पर उन्हें यह निश्चित मालूम नहीं था कि—यह संवत् विक्रम है या शक अथवा और कोई? आगे लिखे हुए ‘अकलंकके ग्रन्थोंकी तुलना’ शीर्षक स्तम्भसे यह स्पष्ट हो जायगा कि अकलंकने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि आदि आचार्योंके विचारोंकी आलोचना की है। कुमारिल आदिका कार्यकाल सन् ६५० ई० से पहले किसी भी तरह नहीं जाता; क्योंकि भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) की आलोचना कुमारिल आदिके ग्रन्थोंमें पाई जाती है। यदि विक्रमार्क शकाब्दसे विक्रमसंवत् विवक्षित किया जाय तो अकलंकको कुमारिल आदिसे पूर्वकालीन नहीं तो ज्येष्ठ तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। यह अकलंकके द्वारा जिन अन्य आचार्योंकी समालोचना की गई है, उनके समयसे स्पष्ट ही विरुद्ध पड़ता है। अतः हम इस श्लोकको इतना महत्त्व नहीं दे सकते, जिससे हमें सारी वस्तुस्थितिको उलटकर भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णकगोमिको, जिनमें स्पष्टरूपसे पौरुषपर्य है खींचतानकर समान कालमें लाना पड़े। अकलंकदेवके ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि उनका बौद्धदर्शनविषयक अभ्यास धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्योंके मूल एवं टीकाग्रन्थोंका था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि—उन्होंने वसुबन्धु या दिग्नागके ग्रन्थ नहीं देखे थे। किन्तु बौद्धोंके साथ महान् शास्त्रार्थ करनेवाले अकलंकको उन पूर्वग्रन्थोंका देखना भर

१. भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिरके जैनागम कॅटलॉग (Part II. P. 302) में मलयगिरिरचित लिखित तीन नन्दिसूत्रविवरणोंका परिचय है। उनमें चूर्णिकार तथा हरिभद्रका निम्न श्लोकोंमें स्मरण किया है—

“नन्द्यध्ययनं पूर्वं प्रकाशितं येन विषमभावार्थम् । तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु विदुषे परोपकृते ॥ १ ॥

मध्ये समस्तभूपौठं यशो यस्याभिवर्द्धत । तस्मै श्रीहरिभद्राय नमस्टीकाविधायिने ॥ २ ॥”

पर्याप्त नहीं था, उन्हें तो शास्त्रार्थमें खण्डनीय जटिल युक्तिजालका विशिष्ट अभ्यास चाहिए था। इसलिये शास्त्रार्थमें उपयोगी दलीलोंके कोटिक्रममें पूर्ण निष्णात अकलंकका महान्वाद विक्रम ७०० में असंभव मालूम होता है; क्योंकि धर्मकीर्ति आदिका ग्रन्थरचनाकाल सन् ६६० से पहिले किसी तरह संभव नहीं है। सारांश यह कि—हमें इस उल्लेखकी संगतिके लिये अन्य साधक एवं पोषक प्रमाण खोजने होंगे। मैंने इसी दिशामें यह प्रयत्न किया है।

अन्य हरिभद्र, सिद्धसेनगणि आदि द्वारा अकलंकका उल्लेख, हरिवंशपुराणमें अकलंकका उल्लेख, वीरसेन द्वारा राजवार्तिकके अवतरण लिये जाना आदि ऐसे रबरप्रकृतिक प्रमाण हैं, जिन्हें खींचकर कहीं भी बिठाया जा सकता है। अतः उनकी निराधार खोजतानमें मैं अपना तथा पाठकोंका समय खर्च नहीं करूँगा।

३. अकलंकके ग्रन्थोंकी तुलना

हमें अकलंकके ग्रन्थोंके साथ जिन आचार्योंके ग्रन्थोंकी तुलना करना है उनके पारस्परिक पौर्वापर्य एवं समयके निर्णयकी खास आवश्यकता है। अतः तुलना लिखनेके पहिले उन खास-खास आचार्योंके पौर्वापर्य तथा समयके विषयकी आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसमें प्रथम भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित आदि आचार्योंके समय आदिका विचार होगा फिर इनके साथ अकलंककी तुलना करके अकलंकदेवका समय निर्णित होगा।

भर्तृहरि और कुमारिल—इत्सिगके उल्लेखानुसार भर्तृहरि उस समयके एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उस समय इनका वाक्यविषयकचर्चावाला वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध था। इत्सिगने जब (सन् ६९१) अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरिकी मृत्यु हुए ४० वर्ष हो चुके थे। अतः भर्तृहरिका समय सन् ६००-६५० तक सुनिश्चित है। भर्तृहरि शब्दाद्वैत दर्शनके प्रस्थापक थे। मीमांसकधुरीण कुमारिलने भर्तृहरिके वाक्यपदीयसे अनेकों श्लोक उद्धृतकर उनकी समालोचना की है। यथा—

“अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।

अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥” —वाक्यपदीय २।१२१

तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में यह श्लोक दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। इसी तरह

१. हरिवंशपुराणके “इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः। देवस्य देवसंघस्य न वन्दन्ते गिरः कथम् ॥” (१-३१) इस श्लोकमें पं कौलाशचन्द्रजी देवनन्दिका स्मरण मानते हैं। उसके लिये ‘देवसंघस्य’ की जगह ‘देववन्दस्य’ पाठ शुद्ध बताते हैं (न्यायकुमुद प्रस्ता०)। पर इस श्लोकका ‘इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः’ विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि—वे देव इन्द्र चन्द्र अर्क जैनेन्द्र व्याडि आदि व्याकरणोंके इक्षिण-द्रष्टा-विशिष्ट अभ्यासी थे। देवनन्दि इन्द्र आदि व्याकरणोंके अभ्यासी तो हो सकते हैं पर जैनेन्द्रव्याकरणके तो वे रचयिता थे। यदि देवनन्दिका स्मरण हरिवंशकारको करना था तो वे ‘जैनेन्द्रकत्तुः’ या ‘जैनेन्द्रप्रणेतुः’ ऐसा कोई पद रखते। एक ही पदमें जैनेन्द्रके कर्त्ता तथा इन्द्रादि व्याकरणोंके अभ्यासी देवनन्दिका उल्लेख व्याकरणशास्त्रके नियमोंसे विरुद्ध है। देवनन्दिका स्मरण माननेके लिए ‘देवसंघस्य’ की जगह ‘देववन्दस्य’ पाठरूप कल्पनागौरवका, तथा ‘देवनन्दस्य’ पाठके भ्रष्ट रूपसे देवनन्दिका संकेत मानने रूप क्लिष्टकल्पनाका भार व्यर्थ ही ढोना पड़ता है। अतः इस श्लोकमें शब्दशास्त्रनिष्णात अकलंकका ही स्मरण मानना चाहिए।

६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

तन्त्रवातिक (पृ० २०९-१०) में कुमारिलने वाक्यपदीयके 'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते' (वाक्यप० १।७) अंश को उद्धृतकर उसका खंडन किया है। मीमांसाश्लोकवातिक (वाक्याधिकरण श्लोक ५१ से) में वाक्यपदीय (२।१-२) में आए हुए दशविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी भी आलोचना कुमारिलने (मी० श्लो० स्फोटवाद) बड़ी प्रखरतासे की है। डॉ० के० बी० पाठकने यह निर्धारित किया है कि—कुमारिल ईसवी सन्की ८वीं शताब्दीके पूर्वभागमें हुए हैं। डॉ० पाठकके द्वारा अन्विष्ट प्रमाणोंसे इतना तो स्पष्ट है कि कुमारिल भर्तृहरि (सन् ६५०) के बाद हुए हैं। अतः कमसे कम उनका कार्यकाल सन् ६५० के बाद तो होगा; पर वे इतने बाद तो कभी नहीं हो सकते। मेरे 'धर्मकीर्ति और कुमारिल' के विवेचनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि—कुमारिल भर्तृहरिके बाद होकर भी धर्मकीर्तिके कुछ पूर्व हुए हैं; क्योंकि धर्मकीर्तिने कुमारिलके विचारोंका खंडन किया है। डॉ० पाठक कुमारिल और धर्मकीर्तिके पारस्परिक पौर्वापर्यके विषयमें अभ्रान्त नहीं थे। यही कारण है कि—वे कुमारिलका समय ई० ८वीं का पूर्वभाग मानते थे। धर्मकीर्तिका समय आगे सन् ६२० से ६९० तक निश्चित किया जायगा। अतः कुमारिलका समय सन् ६०० से ६८० तक मानना ही समुचित होगा।

भर्तृहरि और धर्मकीर्ति—कुमारिलकी तरह धर्मकीर्तिने भी भर्तृहरिके स्फोटवाद तथा उनके अन्य विचारोंका खंडन अपने प्रमाणवातिक तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें किया है। यथा—

१—धर्मकीर्ति स्फोटवादका खण्डन प्रमाणवातिक (३।२५१ से) में करते हैं।

२—भर्तृहरि की—“नादेनाहितब्रीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।

आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥”

—वाक्यप० १।८५

इस कारिकामें वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकारका खण्डन धर्मकीर्ति प्रमाणवातिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२५३) में इस प्रकार उल्लेख करके करते हैं—

“समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या।”

अतः धर्मकीर्तिका समय भर्तृहरिके अनन्तर माननेमें कोई सन्देह नहीं है।

कुमारिल और धर्मकीर्ति—डॉ० विद्याभूषण आदिको विश्वास था कि कुमारिलने धर्मकीर्तिको आलोचना की है। मद्रास युनि०से प्रकाशित बृहतीके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें प्रो० रामनाथ शास्त्रीने उक्त मन्तव्यकी पुष्टिके लिये मीमांसाश्लोकवातिकके ४ स्थल (मी० श्लो० पृ० ६९ श्लो० ७६, पृ० ८३ श्लो० १३१, पृ० १४४ श्लो० ३६, पृ० २५० श्लो० १३१) भी खोज निकाले हैं। मालूम होता है कि—इन स्थलोंकी पार्थसारथिमिश्र विरचित न्यायरत्नाकर व्याख्यामें जो उत्थान वाक्य दिए हैं, उन्हींके आधारसे ही प्रो० रामनाथजीने उन श्लोकोंको धर्मकीर्तिके मतखण्डनपरक समझ लिया है। यहाँ पार्थसारथिमिश्रकी तरह, जो कुमारिलसे ४-५ सौ वर्ष बाद हुए हैं, शास्त्रीजी भी भ्रममें पड़ गए हैं। क्योंकि उन श्लोकोंमें कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसके बलपर उन श्लोकोंका अर्थ साक्षात् धर्मकीर्तिके मतखण्डनपरक रूपमें लगाया जा सके। ४-५ सौ वर्ष बाद हुए टीकाकारको, जिसकी दृष्टि ऐतिहासिककी अपेक्षा तात्त्विक अधिक है, ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है। इसी तरह डॉ० पाठक^१का यह लिखना भी अभ्रान्त नहीं है कि—“मीमांसा श्लोकवातिकके शून्यवाद प्रकरणमें कुमारिलने बौद्धमतके 'बुद्ध्यात्मा ग्राह्य ग्राहक रूपसे भिन्न दिखाई देता है' इस विचारका

१. यह उद्धरण न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनासे लिया है।

खण्डन किया है। श्लोकवार्तिककी व्याख्यामें इस स्थानपर सुचरितमिश्र धर्मकीर्तिका निम्न श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्यने भी उद्धृत किया है, बारम्बार उद्धृत करते हैं—

“अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनः ।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥” —प्रमाणवा० २।३५४

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल धर्मकीर्तिके बाद हुए हैं ।”

डॉ० पाठक जिन श्लोकोंकी व्याख्यामें सुचरितमिश्र द्वारा ‘अविभागोऽपि’ श्लोक उद्धृत किए जानेका जिक्र करते हैं, वे श्लोक ये हैं—

“मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः । तथाप्यनादौ संसारे पूर्वज्ञानप्रसूतिभिः ॥

चित्राभिश्चित्रहेतुत्वाद्वासनाभिरुपप्लवात् । स्वानुरूपेण नीलादिप्राह्यग्राहकदूषितम् ॥

प्रविभक्तमिवोत्पन्नं नान्यमर्थमपेक्षते ।”

—मी० श्लो० शून्यवाद श्लो० १५-१७

इन श्लोकोंकी व्याख्यामें न केवल सुचरितमिश्रने ही किन्तु पार्थसारथिमिश्रने भी ‘अविभागोऽपि’ श्लोकको उद्धृतकर बौद्धमतका पूर्वपक्ष स्थापित किया है। पर इन श्लोकोंकी शब्दावलीका ध्यानसे पर्य-वेक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि—ग्रन्थकार इन श्लोकोंको सीधे तौरसे पूर्वपक्षके किसी ग्रन्थसे उठाकर उद्धृत कर रहा है। इनकी शब्दावली ‘अविभागोऽपि’ श्लोककी शब्दरचनासे करीब-करीब बिल्कुल भिन्न है। यद्यपि आर्थिक दृष्टिसे ‘अविभागोऽपि’ श्लोककी संगति ‘मत्पक्षे’ आदि श्लोकोंसे ठीक बैठ सकती है; पर यह विषय स्वयं धर्मकीर्ति द्वारा मूलतः नहीं कहा गया है। धर्मकीर्तिके पूर्वज आचार्य वसुवन्धु आदिने विश-तिकाविज्ञप्तिमात्रता और त्रिशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि आदि ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे उक्त विषयका स्थापन किया है। दिग्नागके जिस प्रमाणसमुच्चयपर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक वृत्ति रची है उसमें तो इसका विवेचन होगा ही। स्थिरमति आदि विज्ञानवादियोंने वसुवन्धुकी त्रिशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धिपर भाष्य आदि रचके उक्त मतको पूरी-पूरी तौरसे पल्लवित किया है। धर्मकीर्ति तो उक्त मतके अनुवादक हैं। अतः सुचरिता मिश्र या पार्थसारथिमिश्रके द्वारा उद्धृत श्लोकके बलपर कुमारिलको धर्मकीर्तिका समालोचक नहीं कही-जा सकता।

अब मैं कुछ ऐसे स्थल उद्धृत करता हूँ जिनसे यह निर्धारित किया जा सकेगा कि धर्मकीर्ति ह कुमारिलका खण्डन करते हैं—

१-कुमारिलने शारभभाष्यके ‘धर्मं चोदनैव प्रमाणम्’ इस वाक्यको ध्यानमें रखकर अपने द्वारा किए गए सर्वज्ञत्वनिराकरणका एक ही तात्पर्य बताया है कि—

“धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥”

अर्थात्—सर्वज्ञत्वके निराकरणका तात्पर्य है धर्मज्ञत्वका निषेध। धर्मके सिवाय अन्य सब पदार्थोंके जानने-वालेका निषेध यहाँ प्रस्तुत नहीं है।

धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (१-३१-३५) में ठीक इससे विपरीत सुगतकी धर्मज्ञता ही पूरे जोरसे सिद्ध करते हैं, उन्हें सुगतकी सर्वज्ञता अनुपयोगी मालूम होती है। वे लिखते हैं कि—

“हेयोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदकः । यहः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः ॥

१. यह श्लोक कुमारिलके नामसे तत्त्वसंग्रह (पृ० ८१७) में उद्धृत है।

८ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे ॥”

—प्रमाणवा० १।३४-३५

अर्थात्—जो हेय—दुख, उपादेय—निरोध, हेयोपाय—समुदय, और उपादेयोपाय—मार्ग इन चार आर्यसत्त्योंका जानता है वही प्रमाण है । उसे समस्त पदार्थोंका जाननेवाला होना आवश्यक नहीं है । वह दूर-अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाने या न जाने, उसे इष्टतत्त्वका परिज्ञान होना चाहिए । यदि दूरवर्ती पदार्थोंका द्रष्टा ही उपास्य होता हो तब तो हमको दूरद्रष्टा गृध्रोंकी उपासना पहिले करनी चाहिए ।

२—कुमारिलने शब्दको नित्यत्व मिद्ध करनेमें जिन क्रमबद्ध दलीलोंका प्रयोग किया है, धर्मकीर्ति उनका प्रमाणवार्तिकमें (३।२६५ से आगे) खण्डन करते हैं ।

३—कुमारिलके ‘वर्णानुपूर्वी वाक्यम्’ इस वाक्यलक्षणका धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२५९) में ‘वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेत्’ उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं ।

४—कुमारिलके “नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता” —मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४

इस वाक्यका धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकमें उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं—

“मिथ्यात्वं कृतकेश्वेव दृष्टमित्यकृतकं वचः ।

सत्यार्थं व्यतिरेकेण विरोधिव्यापनाद् यदि ॥—प्रमाणवा० ३।२८९

५—कुमारिलके “अतोऽत्र पुन्निमित्तत्वादुपपन्ना मृषार्थता” । —मी० श्लो० चोदनासू० श्लोक० १६९

इस श्लोकका खंडन धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक स्वीपज्ञवृत्ति (३।२९१) में किया है—“ततो यत्किञ्चिन्मिथ्यार्थं तत्सर्वं पौरुषेयमित्यनिश्चयात् ।”

६—कुमारिलने “आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता” दिग्नागके इस वचनकी मीमांसाश्लोकवार्तिक (पृ० ४१८ और ९१३) में समालोचना की है । इसका उत्तर धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२१६) में देते हैं ।

७—कुमारिल श्लोकवार्तिक (पृ० १६८) में निर्विकल्पकप्रत्यक्षका निम्नरूपसे वर्णन करते हैं—

“अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥

धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक (२।१४१) में इसका “केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवदकल्पनाम् । आहुर्बाला” उल्लेख करके खण्डन किया है ।

८—कुमारिल वेदके अपौरुषेयत्वसमर्थनमें वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतुका भी प्रयोग करते हैं—

“वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥” —मी० श्लो० पृ० ९४९

धर्मकीर्ति अपौरुषेयत्वसाधक अन्य हेतुओंके साथ ही साथ कुमारिलके इस हेतुका भी उल्लेख करके खण्डन करते हैं—

“यथाऽयमन्यतोऽश्रुत्वा नेमं वर्णपदक्रमम् ।

वक्तुं समर्थः पुरुषः तथान्योऽपीति कश्चन ॥” —प्रमाणवा० ३।२४०

प्रमाणवार्तिकस्वीपज्ञवृत्तिके टीकाकार कर्णकगोमि इस श्लोककी उत्थानिका इस प्रकार देते हैं—
“तदेवं कर्तुरस्मरणादिति हेतुं निराकृत्य अन्यदपि साधनम् वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्” इति

दूषयितुमुपन्यस्यति यथेत्यादि ।” इससे स्पष्ट है कि—इस श्लोकमें धर्मकीर्ति कुमारिलके वेदध्ययनवाच्यत्व हेतुका ही खंडन कर रहे हैं ।

इन उद्धरणोंसे यह बात असन्दिग्धरूपसे प्रमाणित हो जाती है कि—धर्मकीर्तिने ही कुमारिलका खंडन किया है न कि कुमारिलने धर्मकीर्तिका । अतः भर्तृहरिका समय सन् ६००से ६५० तक, कुमारिलका समय सन् ६००से ६८० तक, तथा धर्मकीर्तिका समय सन् ६२० से ६९० तक मानना समुचित होगा । धर्मकीर्तिके इस समयके समर्थनमें कुछ और विचार भी प्रस्तुत किए जाते हैं—

धर्मकीर्तिका समय—डॉ० विद्याभूषण आदि धर्मकीर्तिका समय सन् ६३५ से ६५० तक मानते हैं । यह प्रसिद्धि है कि—धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालयके अध्यक्ष धर्मपालके शिष्य थे । चीनी यात्री हुएनसांग जब सन् ६३५में नालन्दा पहुँचा तब धर्मपाल अध्यक्षपदसे निवृत्त हो चुके थे और उनका बयोवृद्ध शिष्य शीलभद्र अध्यक्षपद पर था । हुएनसांगने इन्हींसे योगशास्त्रका अध्ययन किया था । हुएनसांगने अपना यात्राविवरण सन् ६४५ ई०के बाद लिखा है । उसने अपने यात्रावृत्तान्तमें नालन्दाके प्रसिद्ध विद्वानोंकी जो नामावली दी है उसमें ये नाम हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानमित्र, शीघ्रबुद्ध और शीलभद्र । धर्मकीर्तिका नाम न देनेके विषयमें साधारणतया यही विचार है, और वह युक्तिसंगत भी है कि—धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे ।

भिक्षु राहुलसांक्रत्यायनजीका विचार है कि—‘धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी । चूँकि हुएनसांगको तर्कशास्त्रसे प्रेम नहीं था और यतः वह समस्त विद्वानोंके नाम देनेको बाध्य भी नहीं था, इसीलिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका नाम नहीं लिया ।’ राहुलजीका यह तर्क उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि धर्मकीर्ति जैसे युगप्रधानतार्किकका नाम हुएनसांगको उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुबन्धु आदिका लिया है । तर्कशास्त्रसे प्रेम न होनेपर भी गुणमति, स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किकोंका नाम जब हुएनसांग लेता है तब धर्मकीर्तिने तो बौद्धदर्शनके विस्तारमें उनसे कहीं अधिक एवं ठोस प्रयत्न किया है । इसलिए धर्मकीर्तिका नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था, किन्तु हुएनसांगकी सहज गुणानुरागिताका द्योतक भी था । यह ठीक है कि—हुएनसांग सबके नाम लेनेको बाध्य नहीं था, पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण व्यक्ति नहीं था जिसकी ऐसी उपेक्षा अनजानमें भी की जाती । फिर यदि धर्मकीर्तिका कार्यकाल गुणमति, स्थिरमति आदिसे पहिले ही समाप्त हुआ होता तो इनके ग्रन्थोंपर धर्मकीर्तिकी विशालग्रन्थराशिका कुछ तो असर मिलना चाहिए था । जो उनके ग्रन्थोंका सूक्ष्म पर्यवेक्षण करनेपर भी दृष्टिगोचर नहीं होता । हुएनसांगने एक जिनमित्र नामके आचार्यका भी उल्लेख किया है । इत्सिंगके ‘धर्मकीर्तिने ‘जिन’ के पश्चात् हेतुविद्याको और सुधारा’ इस उल्लेखके अनुसार तो यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि धर्मकीर्तिका कार्यकाल ‘जिन’ के पश्चात् था; क्योंकि हुएनसांगके ‘जिनमित्र’ और इत्सिंगके ‘जिन’ एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं । अतः यही उचित मालूम होता है कि—धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब हुएनसांगने अपना यात्राविवरण लिखा ।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था । इसने सन् ६७१ से ६९५ तक भारतवर्षकी यात्रा की । यह सन् ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालयमें रहा । इसने अपना यात्रावृत्तान्त सन् ६९१-९२में लिखा

१. देखो वादन्यायकी प्रस्तावना ।

२. दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयपर जिनन्द्रविरचित टीका उपलब्ध है । संभव है ये जिनन्द्र ही हुएनसांगके जिनमित्र हों ।

१० : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

है। इत्सिंगने नालन्दा विश्वविद्यालयकी शिक्षाप्रणाली आदिका अच्छा वर्णन किया है। वह विद्यालयके लब्ध-प्रतिष्ठ स्नातकोंकी चर्चके सिलसिलेमें लिखता है कि—“प्रत्येक पीढ़ीमें ऐसे मनुष्योंमेंसे केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चाँद या सूर्यसे होती है और उन्हें नाग और हाथीकी तरह समझा जाता है। पहिले समयमें नागार्जुनदेव, अश्वघोष, मध्यकालमें वसुबन्धु, असङ्ग, संघभद्र और भवविवेक, अन्तिम समयमें जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे।” (इत्सिंगकी भारतयात्रा पृ० २७७) इत्सिंग (पृ० २७८) फिर लिखते हैं कि “धर्मकीर्तिने ‘जिन’ के पश्चात् हेतुविद्याको और सुधारा। प्रज्ञागुप्तने (मतिपाल नहीं) सभी विपक्षी मतोंका खंडन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया।” इन उल्लेखोंसे मालूम होता है कि—सन् ६९१ तकमें धर्मकीर्तिकी प्रसिद्धि ग्रन्थकारके रूपमें हो रही थी। इत्सिंगने धर्मकीर्तिके द्वारा हेतुविद्याके सुधारनेका जो वर्णन किया है वह सम्भवतः धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु ग्रन्थको लक्ष्यमें रखकर किया गया है, जो हेतुविद्याका एक प्रधान ग्रन्थ है। वह इतना परिष्कृत एवं हेतुविद्यापर सर्वांगीण प्रकाश डालनेवाला है कि केवल उसीके अध्ययनसे हेतुविद्याका पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

इत्सिंगके द्वारा धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति आदिके साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्तिके टीकाकार शिष्य प्रज्ञागुप्तका नाम लिए जानेसे यह मालूम होता है कि—उसका उल्लेख किसी खास समयके लिए नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैसे लम्बे समयवाले युगके लिए है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि—धर्मकीर्ति इत्सिंगके यात्राविवरण लिखने तक जीवित थे। यदि राहुलजीकी कल्पनानुसार धर्मकीर्तिकी मृत्यु हो गई होती तो इत्सिंग जिस तरह भर्तृहरिको धर्मपालका समकालीन लिखकर उनकी मृत्युके विषयमें भी लिखता है कि—‘उसे मरे हुए अभी ४० वर्ष हो गए’ उसी तरह अपने प्रसिद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्तिकी मृत्युपर भी आँसू बहाए बिना न रहता।

यद्यपि इत्सिंग धर्मकीर्तिको हेतुविद्याके सुधारक रूपसे लिखता है; परन्तु वह हेतुविद्यामें पाण्डित्य प्राप्त करनेके लिये पठनीय शास्त्रोंकी सूचीमें हेतुद्वारशास्त्र, हेत्वाभासद्वार, न्यायद्वार, प्रज्ञप्तिहेतु, एकीकृत अनुमानोंपर शास्त्र, आदि ग्रन्थोंका ही नाम लेता है, धर्मकीर्तिके किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थका नाम नहीं लेता। इसके ये कारण हो सकते हैं—इत्सिंगने अपना यात्राविवरण चाइनी भाषामें लिखा है अतः अनुवादकोंने जिन शब्दोंका हेतुद्वार, न्यायद्वार तथा हेत्वाभासद्वार अनुवाद किया है उनका अर्थ हेतुबिन्दु और न्यायबिन्दु भी हो सकता है। अथवा धर्मकीर्तिको हेतुविद्याके सुधारक रूपमें जानकर भी इत्सिंग उनके ग्रंथोंसे परिचित न हो। अथवा उस समय धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंकी ओक्षा अन्य आचार्योंके ग्रंथ नालन्दामें विशेषरूपसे पठन-पाठनमें आते होंगे।

इस विवेचनसे हमारा यह निश्चित विचार है कि—भर्तृहरि (सन् ६०० से ६१०) के साथ ही साथ उसके आलोचक कुमारिल (सन् ६२० से ६८०) की भी आलोचना करनेवाले, तथा प्रमाणवातिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्ध परीक्षा आदि ९ प्रौढ़, विस्तृत और सटीक प्रकरणोंके रचयिता धर्मकीर्तिकी समयावधि सन् ६३५-६१० से आगे लम्बानी ही होगी। और वह अवधि सन् ६२० से ६९० तक रखनी समुचित होगी। इससे हुएनसांगके द्वारा धर्मकीर्तिके नामका उल्लेख न होनेका, तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेखका वास्तविक अर्थ भी संगत हो जाता है। तथा तिब्बतीय इतिहासलेखक तारानाथका धर्मकीर्तिको तिब्बतके राजा स्रोङ् सन् ग्म पो का, जिसने सन् ६२९ से ६८९ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

अकलंकदेवने भर्तृहरि कुमारिल तथा धर्मकीर्तिकी समालोचनाके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णक-गोमि, घर्मोत्तर आदिके विचारोंका भी आलोचन किया है। इन सब आचार्योंके ग्रंथोंके साथ अकलंकके ग्रंथोंकी आन्तरिक तुलना अकलंकके समयनिर्णयमें खास उपयोगी होगी। इसलिए अकलंकके साथ उक्त आचार्योंकी तुलना क्रमशः की जाती है—

भर्तृहरि और अवलंक—भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचनाके सिलसिलेमें अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० २३१) में वाक्यपदीयकी (१।७१) “इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा ।” इस कारिकामें वर्णित इन्द्रियसंस्कार, शब्दसंस्कार तथा उभयसंस्कार रूप तीनों पक्षोंका खंडन किया है।

राजवार्तिक (पृ० ४०) में वाक्यपदीयकी “शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविर्चवोपवर्ण्यते” —वाक्यप० २।२३५ यह कारिका उद्धृत की गई है। सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिवि० टी० पृ० ५४६ से) के शब्दसिद्धि प्रकरणमें भी स्फोटवादका खंडन है। शब्दाद्वैतवादका खंडन भी सिद्धिविनिश्चयमें (टी० पृ० ४५८ से) किया गया है।

कुमारिल और अकलंक—अकलंकदेवके ग्रंथोंमें कुमारिलके मन्तव्योंके आलोचनके साथ ही साथ कुछ शब्दसादृश्य भी पाया जाता है—

१—कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि—

“प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।

सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥” —मी० श्लो० पृ० ८५

अर्थात्—जब प्रत्यक्षादिप्रमाणोंसे अबाधित प्रमेयत्वादि हेतु ही सर्वज्ञका सद्भाव रोक रहे हैं तब कौन उसे सिद्ध करनेकी कल्पना भी कर सकेगा ?

अकलंकदेव इसका प्रतिवन्दि उत्तर अपनी अष्टशती (अष्टसह० पृ० ५८) में देते हैं कि—“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्धर्म हेतुलक्षणं पुष्पाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा” अर्थात्—जब प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्वका हेतुका पोषण कर रहे हैं तब कौन चेतन उस सर्वज्ञका प्रतिषेध या उसके सद्भावमें संशय कर सकता है ?

२—तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितके लेखानुसार कुमारिलने सर्वज्ञनिराकरणमें यह कारिका भी कही है कि—

“दश हस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।

न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्याशतैरपि ॥” —तत्त्वसं० पृ० ८२६

अर्थात्—यह संभव है कि कोई प्रयत्नशील पुरुष अभ्यास करनेपर अधिकसे अधिक १० हाथ ऊँचा कूद जाय; पर सैकड़ों वर्षों तक कितना भी अभ्यास क्यों न करे वह १०० योजन ऊँचा कभी भी नहीं कूद सकता। इसी तरह कितना भी अभ्यास क्यों न किया जाय ज्ञानका प्रकर्ष अतीन्द्रियार्थके जाननेमें नहीं हो सकता।

अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० ४२५ B.) में इसका उपहास करते हुए लिखते हैं कि—
“दश हस्तान्तरं व्योम्नो नोत्प्लवेरन् भवादृशः । योजनानां सहस्रं किं वोत्प्लवेदधुना नरैः ॥”

अर्थात्—जब शारीरिक असामर्थ्यके कारण आप दस हाथ भी ऊँचा नहीं कूद सकते तब दूसरोंसे हजार योजन कूदनेकी आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि अमुक मर्यादासे ऊँचा कूदनेमें शारीरिकगुहत्व बाधक होता है।

१२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

३-कुमारिलने जैनसम्मत केवलज्ञानकी उत्पत्तिको आगमाश्रित मानकर यह अन्योन्याश्रय दोष दिया है कि—'केवलज्ञान हुए बिना आगमकी सिद्धि नहीं हो सकती तथा आगम सिद्ध हुए बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।'—

“एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः । सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥”

“नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेनागमो विना ॥” —मी० श्लो० पृ० ८७

अकलंकदेव न्यायविनिश्चय (का० ४१२-१३) में मीमांसाश्लोकवातिकके शब्दोंको ही उद्धृत कर इसका उत्तर यह देते हैं कि—सर्वज्ञ और आगमकी परस्पर अनादि है । इस पुरुषको केवलज्ञान पूर्व आगमसे हुआ तथा उस आगमकी उत्पत्ति तत्पूर्व सर्वज्ञसे । यथा—

“एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् । नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेन विनागमः ॥

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः । प्रभवः पौरुषेयोस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥”

शाब्दिक तुलना—

“पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥” —मी० श्लो० पृ० ६९५

“प्रत्यक्षप्रतिसेवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥” —न्यायवि० का० ११७

“तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥” —प्रमाणसं० पृ० ११२

धर्मकीर्ति और अकलंक—अकलंकने धर्मकीर्तिकी केवल मार्मिक समालोचना ही नहीं की है, किन्तु परपक्षके खंडनमें उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है । अकलंकके साहित्यका बहुभाग बौद्धोंके खंडनसे भरा हुआ है । उसमें जहाँ धर्मकीर्तिके पूर्वज दिग्नाग आदि विद्वानोंकी समालोचना है वहाँ धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन प्रज्ञाकर तथा कर्णकगोमि आदिके विचारोंका भी निरसन किया गया है । अकलंक और धर्मकीर्तिकी पारस्परिक तुलना कुछ उद्धरणों द्वारा स्पष्ट रूपसे नीचे की जाती है—

१-धर्मकीर्तिके सन्तानान्तरसिद्धि प्रकरणका पहिला श्लोक यह है—

“बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । मन्यते बुद्धिसद्भावं सा न येषु न तेषु धीः ॥”

अकलंकदेवने राजवार्तिक (पृ० १९) में इसे 'तदुक्तम्' लिखकर उद्धृत किया है तथा सिद्धिविनिश्चय (द्वितीय परि०) में तो 'ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्' इस हेरफेरके साथ मूलमें ही शामिल करके इसकी समालोचना की है ।

२-हेतुविन्दु प्रथमपरिच्छेदका “अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते” यह वाक्य लघीयस्त्रयकी स्वोपज्ञविवृति (पृ० ३) में मूलरूपसे पाया जाता है । हेतुविन्दुकी—

“पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः । अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥”

इस आद्यकारिकाकी आलोचना सिद्धिविनिश्चयकी हेतुलक्षणसिद्धिमें की गई है ।

३-प्रमाणविनिश्चयके “सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्वियोः” वाक्यकी अष्टशती (अष्टसह० पृ० २४२) में उद्धरण देकर आलोचना है ।

४-वादन्यायकी—“असाधनाङ्गचचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।

निग्रहस्थानमन्यत् न युक्तमिति नेष्यते ॥”

इस आद्यकारिकाकी समालोचना न्यायविनिश्चय (का० ३७८) में, सिद्धिविनिश्चयके जल्पसिद्धि प्रकरण में तथा अष्टशती (अष्टसह० पृ० ८१) में हुई है ।

५-प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्तिका “तस्मादेकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावत्यस्तदपेक्षाः तद-सम्भविर्कार्यकारणाः तस्य भेदात् यावत्यश्च व्यावृत्तयः तावत्यः श्रुतयः ।” यह अंश अष्टशती (अष्टसह० पृ० १३८) के “ततो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि” इस अंशसे शब्द तथा अर्थ-दृष्ट्या तुलनीय है ।

६-प्रमाणवार्तिककी आलोचना तथा तुलनाके लिए उपयोगी अवतरण न्यायविनिश्चयादि ग्रंथोंमें प्रचुर रूपसे पाये जाते हैं । ये सब अवतरण प्रस्तुतग्रंथत्रयके टिप्पणोंमें संगृहीत किये हैं । देखो—लघो० टि० पृ० १३१-१३३, १३६-१३९, १४१, १४२, १४६, १४७, १५२ तथा न्यायविनिश्चय टि० पृ० १५५-१५७, १५९-१७० में आये हुए प्रमाणवार्तिकके अवतरण ।

प्रज्ञाकरगुप्त और अकलंक—धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्त एक मर्मज्ञ टीकाकार हैं । ये केवल टीकाकार ही नहीं हैं किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी रखते हैं । इनका समय अभी तक पूर्ण रूपसे निश्चित नहीं है । डॉ० सतीशचंद्र विद्याभूषण उन्हें १०वीं सदीका विद्वान् बताते हैं । भिक्षु राहुल सांकृत्यायनजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय सन् ७०० दिया है । इनका नामोल्लेख अनन्तवीर्य सिद्धिविनिश्चयटीकामें, विद्यानन्द अष्टसहस्रीमें तथा प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्डमें करते हैं । जयन्तभट्टने (न्यायमं० पृ० ७४) जिनका समय ईस्वी ८वींका मध्य भाग है, इनके वार्तिकालंकारके “एकमेवेदं सविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः तत्र यश्चेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्” इस वाक्यका खण्डन किया है । अतः इनका समय ८वीं सदीका प्रारम्भिक भाग तो होना ही चाहिए । इत्सिंगने अपने यात्राविवरणमें एक प्रज्ञागुप्त नामके विद्वान्का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—“प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतोंका खण्डन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया ।” हमारे विचारसे इत्सिंगके द्वारा प्रशंसित प्रज्ञागुप्त दूसरे व्यक्ति नहीं हैं । वे वार्तिकालंकारके रचयिता प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं; क्योंकि इनके वार्तिकालंकारमें विपक्ष खण्डनका भाग अधिक है ।

इस तरह सन् ६९१-९२ में लिखे गये यात्राविवरणमें प्रज्ञाकरगुप्तका नाम होनेसे ये भी धर्मकीर्तिके समकालीन ही हैं । हाँ, धर्मकीर्ति वृद्ध तथा प्रज्ञाकर युवा रहे होंगे । अतः इनका समय भी करीब ६७० से ७२५ तक मानना ठीक है । यह समय भिक्षु राहुलजी द्वारा सूचित टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार भी ठीक बैठता है । प्रज्ञाकरगुप्तके वार्तिकालंकारकी भिक्षु राहुलजी द्वारा की गयी प्रेसकापी पलटनेसे मालूम हुआ कि प्रज्ञाकरने मात्र प्रमाणवार्तिककी टीका ही नहीं की है; किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रकट किये हैं । जैसे—

१-गुणुत् अवस्थामें ज्ञानकी सत्ता नहीं मानकर जाग्रत् अवस्थाके ज्ञानको प्रबोध अवस्थाकालीन ज्ञानमें कारण मानना तथा भाविमरणको अरिष्ट-अपशकुनमें कारण मानना । तात्पर्य यह कि—अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनों ही प्रज्ञाकरके द्वारा आविष्कृत हैं । वे वार्तिकालंकार में लिखते हैं कि—

“अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्य्यमुभयापेक्षयापि समानम् । यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात् ।

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥
तस्मान्दन्वयव्यतिरेकानुबिधायित्वं निबन्धनम् । कार्यकारणभावस्य तद्भाविन्यपि विद्यते ॥
भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव । मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि ॥

१४ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

मृत्युर्न भविष्यन्त भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति ।” —वार्तिकालंकार पृ० १७६

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ११० A.) का यह उल्लेख—“ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदय-कार्यतया कृतिकोदयस्य गमकत्वात् कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भावः” —इस बातका सबल प्रमाण है कि—प्रज्ञाकरगुप्त भाविकारणवादी थे। इसी तरह व्यवहितकारणवादके सिलसिलेमें अनन्तवीर्यका यह लिखना कि—“इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मतं न धर्मोत्तरादीनामिति मन्यते ।” (सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A.) प्रज्ञाकरके व्यवहितकारणवादी होनेका खासा प्रमाण है। प्रज्ञाकरके इस मतको समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि नहीं मानते थे।

२-स्वप्नान्तिकशरीर—प्रज्ञाकर स्वप्नमें स्थूल शरीरके अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर मानता है। स्वप्नमें जो शरीरका दौड़ना, त्रास, भूख, प्यास, मेरुपर्वतादिपर गमन आदि देखे जाते हैं वे सब क्रियाएँ, मौजूदा स्थूलकायके अतिरिक्त जो सूक्ष्मशरीर बनता है, उसीमें होती हैं। इस सूक्ष्मशरीरको वह स्वप्नान्तिकशरीर शब्दसे कहता है। यथा—

“यथा स्वप्नान्तिकः कायः त्रासलंघनधावनैः । जाग्रद्देहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि ॥”

“स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनात् ।” —वार्तिकालंकार पृ० १४८, १८४

अनन्तवीर्याचार्यके सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १३८ B.) में उल्लिखित “प्रज्ञाकरस्तु स्वप्नान्तिक-शरीरवादी.....” वाक्यसे स्पष्ट है कि यह मत भी प्रज्ञाकरगुप्तका था।

३-धर्मकीर्तिने सुगतकी सर्वज्ञताके समर्थनमें अपनी शक्ति न लगाकर धर्मज्ञत्वका समर्थन ही किया है। पर प्रज्ञाकर धर्मज्ञत्वके साथ ही साथ सर्वज्ञत्वका भी समर्थन करते हैं। सर्वज्ञत्वके समर्थनमें वे ‘सत्य-स्वप्नज्ञान’का दृष्टान्त भी देते हैं। यथा—

“इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽस्तीतादिकं संविदन्येव ।” —वार्तिकालंकार पृ० ३९६

४-पीतशंखादिज्ञानोंके द्वारा अर्थक्रिया नहीं होती, अतः वे प्रमाण नहीं हैं, पर संस्थानमात्र अंशसे होनेवाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अतः उस अंशमें उन्हें अनुमानरूपसे प्रमाण मानना चाहिये, तथा अन्य अंशमें संशयरूप। इस तरह इस एक ज्ञानमें आंशिक प्रमाणता तथा आंशिक अप्रमाणता है। यथा—

“पीतशंखादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथा अर्थक्रियाव्याप्टेरभावात् । संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्; तथाहि—

‘प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः । एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥’

ततोऽनुमानं संस्थाने, संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च, अनेन मणिप्रभायां मणिज्ञानं व्याख्यातम् ।” —वार्तिकालंकार पृ० ६

अकलंकदेवने प्रज्ञाकरगुप्तके उक्त सभी सिद्धान्तोंका खण्डन किया है यथा—

१-अकलंकदेवने सिद्धिविनिश्चयमें जीवका स्वरूप बताते हुए ‘अभिन्नः संविदात्मार्थः स्वापप्रबो-धादौ’ विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य है कि—स्वाप और प्रबोध तथा मरण और जन्म आदिमें जीव अभिन्न रहता है, उसकी सन्तान विच्छिन्न नहीं होती। इसीका व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है कि—‘तद्भावे मिद्धादेरनुपपत्तेः’ यदि सुप्तादि अवस्थाओंमें ज्ञानका अभाव माना जायगा तो मिद्ध-अतिनिद्रा मूर्च्छा आदि नहीं बन सकेंगी; क्योंकि सर्वथा ज्ञानका अभाव माननेसे तो मृत्यु ही हो जायगी। मूर्च्छा और अति-निद्रा व्यपदेश तो ज्ञानका सद्भाव माननेपर ही हो सकता है। हाँ, उन अवस्थाओंमें ज्ञान तिरोहित रहता

है। अनन्तवीर्याचार्य 'तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः' वाक्यका व्याख्यान निम्नरूपसे करते हैं—“ननु स्वापे ज्ञानं नास्त्येव इति चेदत्राह—‘तदभाव इत्यादि’...ज्ञानस्य अस्ति मिद्धादेः अनुपपत्तेः इति। मिद्धो निद्रा आदिः यस्य मूर्च्छादिः तस्यानुपपत्तेः मरणोपपत्तेः अवस्थाचतुष्टयाभावः तदवस्थ एव।” (सिद्धिवि० टी० पृ० ५७९ A.) इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि—अकलंकदेव सुषुप्तावस्थामें ज्ञान नहीं माननेवाले प्रज्ञाकरका खंडन करते हैं। अतएव वे न्यायविनिश्चय (का० २२२) में भी जीवस्वरूपका निरूपण करते हुए ‘सुषुप्तादौ बुद्धः’ पद देते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहितकारणवादपर भी उन्होंने आक्षेप किया है। (देखो सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A.)

इसके सिवाय अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय प्रथमपरिच्छेदमें स्पष्टरूपसे लिखते हैं कि—“न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभावं प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति” अर्थात्—जो लोग स्वापादि अवस्थाओंमें निर्विकल्पक और सविकल्पकज्ञानका अभाव मानते हैं उनका ऐसा मानना प्रमाणशून्य है। इस पंक्तिसे अकलंकके द्वारा प्रज्ञाकरके अतीतकारणवादके ऊपर किये गये आक्षेपकी बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

२—न्यायविनिश्चय (का० ४७) में अकलंकदेवने प्रज्ञाकरके स्वप्नान्तिकशरीरका अन्तःशरीर शब्दसे उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है। सिद्धिविनिश्चय (टी० पृ० १३८ B.) में भी अकलंकने स्वप्नान्तिक शरीरपर आक्रमण किया है।

३—अकलंकदेव प्रज्ञाकरकी तरह सर्वज्ञताके समर्थनमें न्यायविनिश्चय (कारि० ४०७) में स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं तथा प्रमाणसंग्रह (पृ० ९९) में तो स्पष्ट ही सत्यस्वप्नज्ञानका ही उदाहरण उपस्थित करते हैं। यथा—“स्वयंप्रभुरलङ्घनाहं स्वार्थालोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत्।”

४—जिस प्रकार प्रज्ञाकरगुप्तने पीतशाखादिज्ञानको संस्थानमात्र अंशमें प्रमाण तथा इतरांशमें अप्रमाण कहा है। उसी तरह अकलंक भी लघीयस्वय तथा अष्टशतीमें द्विचन्द्रज्ञानको चन्द्रांशमें प्रमाण तथा द्वित्वांशमें अप्रमाण कहते हैं। दोनों ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो—लघी० टि० पृ० १४० पं० २० से। अष्टशतीमें तो अकलंकदेव प्रज्ञाकरगुप्तकी संस्थानमात्रमें अनुमान माननेकी बातपर आक्षेप करते हैं। यथा—

“नापि लैङ्गिकं लिंगलिगिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्।”

—अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७

इसके अतिरिक्त हम कुछ ऐसे वाक्य उपस्थित करते हैं जिससे प्रज्ञाकर और अकलंकके ग्रन्थोंकी शाब्दिक और आर्थिक तुलनामें बहुत मदद मिलेगी।

“एकमेवेदं सविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवृत्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्।”—वार्तिकालंकार

“हर्षविषादाद्यनेकाकारविवृत्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरां चैतन्यवृत्तिं कः प्रेक्षावान् प्रतिजानीते।”— सिद्धिवि० टी० पृ० ५२६ B. शेषके लिए देखो—लघी० टि० पृ० १३५ पं० ३१, न्यायवि० टि० पृ० १५९ पं० ११, पृ० १६२ पं० १३, पृ० १६५ पं० २०।

प्रज्ञाकरगुप्तने प्रमाणवार्तिक टीकाका नाम प्रमाणवार्तिकालंकार रखा है। इसीलिए उत्तरकालमें इनकी प्रसिद्धि ‘अलङ्कारकार’के रूपमें भी रही है। अकलंकदेवका ‘तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार’ या ‘तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार’ नाम भी वार्तिकालंकारके नामप्रभावसे अछूता नहीं मालूम होता। इस तरह उपर्युक्त दलीलोंके आधारसे कहा जा सकता है कि—अकलंकदेवने धर्मकीर्तिकी तरह उनके टीकाकार शिष्य प्रज्ञाकरगुप्तको देखा ही नहीं था किन्तु उनकी समालोचना भी डटकर की है।

१६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

कर्णकगोमि और अकलंक—धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम-स्वार्थानुमान परिच्छेदपर ही वृत्ति बनाई थी। इस वृत्तिकी कर्णकगोमिरचित टीकाके प्रूफ हमारे सामने हैं। कर्णकगोमिके समयका बिलकुल ठीक निश्चय न होनेपर भी इतना तो उनके ग्रन्थ देखनेसे कहा जा सकता है कि—ये मंडनमिश्रके बादके हैं। इन्होंने अनेकों जगह मंडनमिश्रका नाम लेकर कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा उनका खंडन किया है। इनने प्रमाणवा० स्ववृ० टीका (पृ० ८८) में 'तदुक्तं मण्डनेन' कहकर "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धं विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥" यह कारिका उद्धृत की है तथा इसका खण्डन भी किया है।

मण्डनमिश्रने स्फोटसिद्धि (पृ० १९३) में मी० श्लोकवार्तिक (पृ० ५४२) की "वर्णा वा ध्वनयो वापि" कारिका उद्धृत की है, तथा विधिविवेक (पृ० २७९) में तन्त्रवार्तिक (२।१।१) की 'अभिधा-भावनामाहुः' कारिका उद्धृत की है। इसलिए इनका समय कुमारिल (सन् ६०० से ६८०) के बाद तो होना ही चाहिए। वृहती द्वितीयभागकी प्रस्तावनामें इनका समय सन् ६७० से ७२० सूचित किया है, जो युक्तियुक्त है।

अतः मण्डनका उल्लेख करनेवाले कर्णकगोमिका समय ७०० ई० के बाद होना चाहिए। ये प्रज्ञाकर-गुप्तके उत्तरकालीन मालूम होते हैं; क्योंकि इन्होंने अपनी टीकामें (पृ० १३७) 'अलङ्कार एव अवस्तुत्व-प्रतिपादनात्' लिखकर वार्तिकालंकारका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६९० से पहिले होना संभव ही नहीं है।

अकलंकदेवने प्रमाणसंग्रहमें इनके मतकी भी आलोचना की है। यथा—

जब कुमारिल आदिने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूपपर आक्षेप करते हुए कहा कि कृतिकोदयादि हेतु तो शकटोदयादि पक्षमें नहीं रहते, अतः हेतुका पक्षधर्मत्वरूप अव्यभिचारी कैसे कहा जा सकता है? तब इसका उत्तर कर्णकगोमिने अपनी स्ववृत्तिटीकामें इस प्रकार दिया है कि—कालको पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटाया जा सकता है। यथा—“तदा च स एव कालो धर्मी तन्नैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ? [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ११]

अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—यदि कालादिको धर्मी मानकर पक्षधर्मत्व सिद्ध करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। यथा—“कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः।” —प्रमाणसंगं पृ० १०४

धर्मोत्तर और अकलंक—प्रज्ञाकरकी तरह धर्मोत्तर भी धर्मकीर्तिके यशस्वी टीकाकार हैं। इन्होंने प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु आदिपर टीका लिखनेके सिवाय कुछ स्वतन्त्र प्रकरण भी लिखे हैं। न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० ३९० B.) के लेखानुसार मालूम होता है कि—अकलंकदेवने न्यायविनिश्चय (का० १६२) में धर्मोत्तर (न्यायवि० टी० पृ० १९) के मानसप्रत्यक्ष विषयक विचारोंकी आलोचना की है। इसी तरह वे न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० २६ B.) में लिखते हैं कि—चूणिमें अकलंकदेवने धर्मोत्तरके (न्यायबिन्दुटीका पृ० १) आदिवाक्यप्रयोजन तथा शास्त्रशरीरोपदर्शनका प्रतिक्षेप किया है। यह चूणि अकलंकदेवकी ही है; क्योंकि—‘तथा च सूक्तं चूर्णीं देवस्य वचनम्’ इस उल्लेखके साथ ही एक श्लोक न्याय-विनिश्चयविवरणमें उद्धृत देखा जाता है (देखो इसी ग्रन्थका परिशिष्ट ९वां)। इसी तरह अनन्तवीर्याचार्य-ने सिद्धिविनिश्चयके अनेक वाक्योंको धर्मोत्तरके खंडन रूपमें सूचित किया है। धर्मोत्तर करीब-करीब प्रज्ञाकर-के समकालीन मालूम होते हैं।

शान्तरक्षित और अकलंक—धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें शान्तरक्षित भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने वादन्यायकी टीकाके सिवाय तत्त्वसंग्रह नामका विशाल ग्रन्थ भी लिखा है। इसका समय सन् ७०५ से ७६२ तक माना जाता है। (देखो तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना) अकलंक और शान्तरक्षितकी तुलनाके लिए हम कुछ वाक्य नीचे देते हैं—

“वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका मतिः।” —तत्त्वसं० पृ० २६७

“तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः।” —न्यायविनि० का० १०४,
प्रमाणसं० का० २६

“अविकल्पमभिन्नान्तं तद्योगीश्वरमानसम्।” —तत्त्वसं० पृ० ९३४

“अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम्।” —न्यायवि० का० १५५

“एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः। निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति ॥”

—तत्त्वसं० पृ० ८८५

“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्पाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा ॥”

—अष्टश० अष्टसह० पृ० ५८

इनके सिवाय शान्तरक्षितने सर्वज्ञसिद्धिमें ईक्षणिकादिविद्याका दृष्टान्त दिया है।

यथा—“अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या यां (या) सुविभाविता।

परचित्तपरिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि ॥” —तत्त्वसं० पृ० ८८८

अकलंकदेव भी (न्यायवि० का० ४०७) सर्वज्ञसिद्धिमें ईक्षणिकाविद्याका दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणोंसे अकलंक और शान्तरक्षितके बिम्बप्रतिबिम्बभावका आभास हो सकता है।

अकलंकके साथ की गई प्रज्ञाकर आदिकी तुलनासे यह बात निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो जाती है कि अकलंकदेव इनके उत्तरकालीन नहीं तो लघुसमकालीन तो अवश्य ही हैं। उक्त समस्त आचार्योंको खींचकर एक कालमें किसी भी तरह नहीं रखा जा सकता। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिल, कुमारिलका निरसन करनेवाले धर्मकीर्ति, धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त तथा प्रज्ञाकरगुप्तके वार्तिकालंकारके बाद बनी हुई कर्णकगोमिकी टीका तकका आलोचन करनेवाले अकलंक किसी भी तरह कुमारिल और धर्मकीर्तिके समकालीन नहीं हो सकते। धर्मकीर्तिके समयसे इनको अवश्य ही कमसे कम ५० वर्ष बाद रखना होगा। इन पचास वर्षोंमें प्रमाणवार्तिककी टीका, वार्तिकालंकारकी रचना तथा कर्णकगोमिकी स्वोपज्ञवृत्तिटीका बनी होगी, और उसने इतनी प्रसिद्धि पाई होगी कि जिससे वह अकलंक जैसे तार्किकको अपनी ओर आकृष्ट कर सके। अतः अकलंकका समय ७२० से ७८० तक मानना चाहिए। पुराने जमानेमें आज जैसे प्रेस, डॉक आदि शीघ्र प्रसिद्धिके साधन नहीं थे, जिनसे कोई लेखक या ग्रन्थकार ५ वर्षमें ही दुनियाँके इस छोरसे उस छोर तक ख्याति प्राप्त कर लेता है। फिर उस समयका साम्प्रदायिक वातावरण ऐसा था जिससे काफी प्रसिद्धि या विचारोंकी मौलिकता ही प्रतिपक्षी विद्वानोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकती थी, और इस प्रसिद्धिमें कमसे कम १५-२० वर्षका समय तो लगना ही चाहिए। इस विवेचनाके आधारपर हम निम्न आचार्योंका समय इस प्रकार रख सकते हैं—

भर्तृहरि ६०० से ६५० तक

प्रज्ञाकर ६७० से ७२५ तक

कुमारिल ६०० से ६८० तक

कर्णकगोमि ६९० से ७५० तक

१८ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

धर्मकीर्ति ६२० से ६९० तक
धर्मोत्तर ६५० से ७२० तक

शान्तरक्षित ७०५ से ७६२ तक
अकलंक ७२० से ७८० तक

तात्पर्य यह कि—भर्तृहरिकी अन्तिम कृति वाक्यपदीय सन् ६५० के आसपास बनी होगी। वाक्य-पदीयके श्लोकोंका खंडन करनेवाला कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक जैसा महान् ग्रन्थ सन् ६६० से पहिले नहीं रचा गया होगा। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिककी समालोचना जिस धर्मकीर्ति-कृत बृहत्काय प्रमाणवार्तिकमें है, उसकी रचना सन् ६७० के आसपास हुई होगी। प्रमाणवार्तिकपर प्रज्ञाकर गुप्तकी अतिविस्तृत वार्तिकालंकार टीका सन् ६८५ के करीब रची गई होगी। वार्तिकालंकारका उल्लेख करने-वाली कर्णकगोमिकी विशाल प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्तिटीकाकी रचना ७२० से पहिले कम संभव है। अतः इन सब ग्रन्थोंकी आलोचना करनेवाले अकलंकका समय किसी भी तरह सन् ७२० से पहिले नहीं जा सकता। अकलंकचरितके '७०० विक्रमार्कशकाब्द' वाले उल्लेखको हमें इन्हीं प्रमाणोंके प्रकाशमें देखना है। यदि १६वीं सदीके अकलंकचरितकी दी हुई शास्त्रार्थकी तिथि ठीक है तो वह विक्रमसंवत्की न होकर शक संवत्की होनी चाहिए। शकसंवत्का उल्लेख भी 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्दसे पाया जाता है। अकलंकका यह समय माननेसे प्रभाचन्द्रके कथाकोशका उन्हें शुभतुंग (कृष्णराज प्र० राज्य सन् ७५८ के बाद) का मन्त्रि-पुत्र बतलाना, मल्लिषेणप्रशस्तिका साहसतुंग (दन्तिदुर्गाद्वि०, राज्य सन् ७४५-७५८) की सभामें उपस्थित होना आदि घटनाएँ युक्तिसंगत समयवाली सिद्ध हो जाती हैं। सोलहवीं सदीके अकलंकचरितकी अपेक्षा हमें १४वीं सदीके कथाकोश तथा १२वीं सदीकी मल्लिषेणप्रशस्तिको अग्रस्थान देना ही होगा; जब कि उसके साधक तथा पोषक अन्य आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। इति।

अकलंकग्रन्थत्रय ग्रन्थ

[बाह्यस्वरूपपरिचय]

१. ग्रन्थत्रय की अकलङ्ककर्तृकता

प्रस्तुत ग्रन्थत्रयके कर्ता प्रखर तार्किक, वाग्मी श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव हैं। अकलङ्कदेवकी यह शैली है कि—वे अपने ग्रन्थोंमें कहीं न कहीं 'अकलङ्क' नामका प्रयोग करते हैं। कहीं वह प्रयोग जिनेन्द्रके विशेषण-रूपसे हुआ है तो कहीं ग्रन्थके विशेषणरूपसे और कहीं किसी लक्ष्यके लक्षणभूत शब्दोंमें विशेषणरूप से।

लघीयस्त्रय के प्रमाणनयप्रवेशके अन्तमें आए हुए 'कृतिरियं सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टा-कलङ्कदेवस्य' इस पुष्पिकावाक्यसे, कारिका नं० ५० में प्रयुक्त 'प्रेक्षावानकलङ्कमेति' पदसे तथा कारिका नं० ७८ में कथित 'भगवदकलङ्कानाम्' पदसे ही लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृकता स्पष्ट है और अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ९९B) में उद्धृत "तदुक्तम् लघीयस्त्रये-प्रमाणफलयो....." इस वाक्यसे, आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षा (पृ० ६९) एवं अष्टसहस्रां (पृ० १३४) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत लघीयस्त्रयकी तीसरी कारिकासे, तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २३९) में 'अत्र अकलङ्क-देवाः प्राहुः' करके उद्धृत लघीयस्त्रयकी १०वीं कारिकासे लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृकता समर्थित होती है। आचार्य मलयगिरि आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७०B.) में 'तथा चाहाकलङ्कः' कहकर लघीयस्त्रयकी ३०वीं कारिका उद्धृत करके लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृताका अनुमोदन करते हैं।

न्यायविनिश्चय कारिका नं० ३८६ में प्रयुक्त 'विस्रब्धैरकलङ्करत्ननिश्चयन्यायो' पदसे, तथा कारिका नं० ४८० में 'आभव्यादकलंकमङ्गलफलम्' पदके प्रयोगसे केवल न्यायविनिश्चयकी अकलङ्ककर्तृकता द्योतित हो नहीं होती; किन्तु न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराजसूरिके उल्लेखोंसे तथा आचार्य अनन्तवीर्य-द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २०८B.) में, एवं आचार्य विद्यानन्द द्वारा आप्तपरीक्षा (पृ० ४९) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत की गई इसकी ५१वीं कारिकासे इसका प्रबल समर्थन भी होता है। आचार्य धर्मभूषणने तो न्यायदीपिका (पृ० ८) में 'तदुक्तं भगवद्भिर्भरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखकर न्यायविनिश्चयकी तीसरी कारिका उद्धृत करके इसका असंदिग्ध अनुमोदन किया है।

प्रमाणसंग्रह की कारिका नं० ९ में आया हुआ 'अकलङ्कं महीयसाम्' पद प्रमाणसंग्रहके अकलङ्करचित होनेकी सूचना दे देता है। इसका समर्थन आचार्य विद्यानन्द द्वारा 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८५) में 'अकलङ्करभ्यधाया यः' कहकर उद्धृत इसकी दूसरी कारिकासे, तथा वादिराजसूरि द्वारा न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० ८३A.) में 'तथा चात्र देवस्य वचनम्' लिखकर उद्धृत किए गए इसके (पृ० ९८) 'विविधानुविवादानस्य' वाक्य से स्पष्टरूपमें हो जाता है।

२. ग्रन्थत्रयके नामका इतिहास तथा परिचय

लघीयस्त्रय नामसे मालूम होता है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणोंका एक संग्रह है। पर इसका लघीयस्त्रय नाम ग्रन्थकर्तके मनमें प्रारम्भसे ही था या नहीं, अथवा बादमें ग्रन्थकारने स्वयं या उनके टीकाकारोंने यह नाम रखा, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मालूम होता है कि—ग्रन्थ बनाते समय अकलंकदेवको 'लघीयस्त्रय' नामकी कल्पना नहीं थी। उनके मनमें तो दिग्नागके न्यायप्रवेश जैसा एक जैनन्यायप्रवेश बनानेकी बात घूम रही थी। यद्यपि बौद्ध और नैयायिक परार्थानुमानको न्यायशब्दकी मर्यादामें रखते हैं; पर अकलंकदेवने तत्त्वार्थसूत्रके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र में वर्णित अधिगमके उपायभूत प्रमाण और नयको ही न्यायशब्दका वाच्य माना है। तदनुसार ही उन्होंने अपने ग्रन्थकी रचनाके समय प्रमाण और नयके निरूपणका उपक्रम किया। लघीयस्त्रयके परिच्छेदोंका प्रवेशरूपसे विभाजन तो न्यायप्रवेशको आधार माननेको कल्पनाका स्पष्ट समर्थन करता है। प्रमाणनयप्रवेशकी समाप्तिस्थलमें विवृतिकी प्रतिमें "इति प्रमाणनयप्रवेशः समाप्तः। कृतिरियं सकलवादिचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्य" यह वाक्य पाया जाता है। इस वाक्यसे स्पष्ट मालूम होता है कि—अकलंकदेवने प्रथम ही 'प्रमाणनयप्रवेश' बनाया था। इस प्रमाणनयप्रवेशकी संकलना, मंगल तथा पर्यवसान इसके अखण्ड प्रकरण होनेको पूरी तरह सिद्ध करते हैं। यदि नयप्रवेश प्रमाणप्रवेशसे भिन्न एक स्वतन्त्र प्रकरण होता तो उसमें प्रवचनप्रवेशकी तरह स्वतंत्र मंगलवाक्य होना चाहिए था। अकलंकदेवकी प्रवचनपर अगाध श्रद्धा थी। यही कारण है कि—स्वतंत्र उत्पादनकी पूर्ण सामर्थ्य रखते हुए भी उन्होंने अपनी शक्ति पुरातनप्रवचनके समन्वयमें ही लगाई। उनने प्रवचनमें प्रवेश करनेके लिए तत्त्वार्थसूत्रमें अधिगमोपाय रूपसे प्ररूपित प्रमाण, नय और निक्षेपका अखंडरूपसे वर्णन करनेके लिए प्रवचनप्रवेश बनाया। इस तरह अकलंकदेवने प्रमाणनयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश ये दो स्वतंत्र प्रकरण बनाये।

यह प्रश्न अभी तक है ही कि—'इसका लघीयस्त्रय नाम किसने रखा?' मुझे तो ऐसा लगता है कि—यह सूझ अनन्तवीर्य आचार्य की है; क्योंकि लघीयस्त्रय नामका सबसे पुराना उल्लेख हमें सिद्धिविनिश्चय टीकामें मिलता है। अनन्तवीर्यकी दृष्टिमें 'प्रमाणनयप्रवेश' एक अखण्ड प्रकरण नहीं था, वे उसे दो स्वतंत्र प्रकरण मानते थे। इसका आधार यह है कि—सिद्धिविनिश्चय टीका (पृ० ५७२ B.) में शब्दनयादिका लक्षण करके वे लिखते हैं कि "एतेषामुदाहरणानि नयप्रवेशकप्रकरणादवगन्तव्यानि"—इनके

२० : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

उदाहरण नयप्रवेशकप्रकरणसे जानना चाहिए। यहाँ नयप्रवेशको स्वतंत्र प्रकरणरूपमें उल्लेख करनेसे अनुमान किया जा सकता है कि अनन्तवीर्यकी दृष्टिमें प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश दो प्रकरण थे। और यह बहुत कुछ सम्भव है कि उनने ही प्रवचनप्रवेशको मिलाकर इनकी 'लघीयस्त्रय' संज्ञा दी हो। उस समय प्रवेशक और लघु ग्रंथोंको प्रकरण शब्दसे कहनेकी परम्परा थी। जैसे न्यायप्रवेशप्रकरण, न्यायविन्दुप्रकरण आदि। अनन्त-वीर्यके इस लघीयस्त्रय संज्ञाकरणके बाद तो इनकी प्रमाणनयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेश संज्ञा लघीयस्त्रयके तीन प्रवेशोंके रूपमें ही रही ग्रन्थके नामके रूपमें नहीं।

अस्तु, लघीयस्त्रय नामका इतिहास जान लेनेके बाद अब हम इसका एक अखण्ड ग्रन्थके रूपमें ही वर्णन करेंगे; क्योंकि आज तक निर्विवाद रूपसे यह एक ही ग्रन्थके रूपमें स्वीकृत चला आ रहा है। इस ग्रन्थमें तीन प्रवेश हैं—१. प्रमाण प्रवेश, २. नय प्रवेश, ३. निक्षेप प्रवेश। प्रमाण प्रवेशके चार परिच्छेद हैं— १. प्रत्यक्ष परिच्छेद, २. विषय परिच्छेद, ३. परोक्ष परिच्छेद, ४. आगम परिच्छेद। इन चार परिच्छेदोंके साथ नयप्रवेश तथा प्रवचन प्रवेशको मिलाकर कुल ६ परिच्छेद स्वोपज्ञविवृतिकी प्रतिमें पाए जाते हैं। लघीयस्त्रयके व्याख्याकार आ० प्रभाचन्द्रने प्रवचनप्रवेशके भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदोंपर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या लिखी है। प्रवचनप्रवेशमें जहाँ तक प्रमाण और नयका वर्णन है वहाँ तक प्रभाचन्द्रने छठवाँ परिच्छेद, तथा निक्षेपके वर्णनको स्वतन्त्र सातवाँ परिच्छेद माना है।

लघीयस्त्रयमें कुल ७८ कारिकाएँ हैं। मुद्रित लघीयस्त्रयमें ७७ ही कारिकाएँ हैं। उसमें 'लक्षणं क्षणिकैकान्ते' (का० ३५) कारिका नहीं है। नयप्रवेशके अन्तमें 'मोहेनैव परोऽपि' इत्यादि पद्य भी विवृतिकी प्रतिमें लिखा हुआ मिलता है। पर इस पद्यका प्रभाचन्द्र तथा अभयनन्दिने व्याख्यान नहीं किया है, तथा उसकी मूलग्रन्थके साथ कोई संगति भी प्रतीत नहीं होती, अतः इसे प्रक्षिप्त समझना चाहिए। प्रथम परि०में ६॥, द्वि० परि०में ३, तृ० परि०में १२, चतु० परि०में ७, पंचम परि०में २१, तथा ६ प्रवचन प्र० में २८, इस तरह कुल ७८ कारिकाएँ हैं।

मूल लघीयस्त्रयके साथ ही स्वयं अकलंकदेवकी संक्षिप्त विवृति भी इसी संस्करणमें मुद्रित है। यह विवृति कारिकाओंका व्याख्यानरूप न होकर उसमें सूचित विषयोंकी पूरक है। अकलंकदेवने इसे मूल श्लोकोंके साथ ही साथ लिखा है। मालूम होता है कि—अकलंकदेव जिस पदार्थको कहना चाहते हैं, वे उसके ध्रुव अंशकी कारिका बनाकर बाकीको गद्य भागमें लिखते हैं। अतः विषयकी दृष्टिसे गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थकी अखंडता स्थिर रखते हैं। धर्मकीतिकी प्रमाणवार्तिककी वृत्ति भी कुछ इसी प्रकारकी है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थकी पूर्ति तथा स्पष्टताके लिए बहुत कुछ लिखा गया है। अकलंकके प्रमाणसंग्रहका अध्ययन करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—अकलंकके गद्यभागको हम शुद्ध वृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध वृत्तिमें मात्र मूलकारिकाका व्याख्यान होना ही आवश्यक है, पर लघीयस्त्रयकी विवृति या प्रमाणसंग्रहके गद्यभागमें व्याख्यानात्मक अंश नहींके ही बराबर हैं। हाँ, कारिकोक्त पदोंको आधार बनाकर उस विषयका शेष वक्तव्य गद्यरूपमें उपस्थित कर दिया है। व्याख्याकार प्रभाचन्द्रने इसको विवृति माना है और वे कारिकाका व्याख्यान करके जब गद्य भागका व्याख्यान करते हैं तब 'विवृति विवृण्वन्नाह' लिखते हैं। विवृति शब्दका प्रयोग हमारे विचारसे खालिस टीका या वृत्तिके अर्थमें न होकर तत्सम्बद्ध शेष वक्तव्यके अर्थमें है।

लघीयस्त्रयमें चर्चित विषय संक्षेपमें इस प्रकार है—

प्रथमपरिच्छेदमें—सम्यग्ज्ञानकी प्रमाणता, प्रत्यक्ष परोक्षका लक्षण, प्रत्यक्षके सांख्यवहारिक और

मुख्य रूपसे दो भेद, सांख्यवहारिकके इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष रूपसे भेद, मुख्यप्रत्यक्षका समर्थन, सांख्यवहारिकके अवग्रहादिरूपसे भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके बह्नादिरूप भेद, भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रियके लक्षण, पूर्व पूर्वज्ञानकी प्रमाणतामें उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी फलरूपता आदि विषयोंकी चरचा है।

द्वितीयपरिच्छेदमें—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुका प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्व, नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्तमें क्रमयौगपद्यरूपसे अर्थक्रियाकारित्वका अभाव, नित्य माननेपर विक्रिया तथा अविक्रियाका अविरोध आदि प्रमाणके विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले विचार प्रकट किए हैं।

तृतीयपरिच्छेदमें—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिबोधका शब्दयोजनासे पूर्व अवस्थामें मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्थामें श्रुतव्यपदेश, व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा असंभव होनेसे व्याप्तिसाक्षी तर्कका प्रामाण्य, अनुमानका लक्षण, जलचन्द्रके दृष्टान्तसे कारण हेतुका समर्थन, कृतिकोदय आदि पूर्वचर हेतुका समर्थन, अदृश्यानुपलब्धिसे भी परचैतन्य आदिका अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञानके वैसदृश्य आपेक्षिक प्रतियोगि आदि भेदोंका निरूपण, बौद्ध मतमें स्वभावादि हेतुओंके प्रयोगमें कठिनता, अनुमानानुमेयव्यवहारकी वास्तविकता एवं विकल्पबुद्धिकी प्रमाणता आदि परोक्षज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंकी चरचा है।

चतुर्थपरिच्छेदमें—किसी भी ज्ञानमें ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निषेध करके प्रमाणाभासका स्वरूप, सविकल्पज्ञानमें प्रत्यक्षाभासताका अभाव, अविस्वादा और विस्वादासे प्रमाण-प्रमाणाभास-व्यवस्था, विप्रकृष्टविषयोंमें श्रुतकी प्रमाणता, हेतुवाद और आप्तोक्त्यरूपसे द्विविध श्रुतकी अविस्वादादि होनेसे प्रमाणता, शब्दोंके विवक्षावाचित्वका खण्डनकर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुत सम्बन्धी बातोंका विवेचन किया गया है। इस तरह प्रमाणके स्वरूप, संख्या, विषय और फलका निरूपणकर प्रमाणप्रवेश समाप्त होता है।

पंचम परिच्छेदमें—नय दुर्नयके लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूपसे मूलभेद, सत्त्वरूपसे समस्त वस्तुओंके ग्रहणका संग्रहनयत्व, ब्राह्मवादका संग्रहाभासत्व, बौद्धाभिमत एकान्तक्षणिकताका निरास, गुण-गुणी, धर्म-धर्मीकी गौण मुख्य विवक्षामें नैगमनयकी प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुणगुण्यादिके एकान्त भेदका नैगमाभासत्व, प्रामाणिक भेदका व्यवहारनयत्व, काल्पनिक भेदका व्यवहाराभासत्व, कालकारकादिके भेदसे अर्थ-भेद निरूपणकी शब्दनयता, पर्यायभेदसे अर्थभेदक कथनका समभिरूढनयत्व, क्रियाभेदसे अर्थभेद प्ररूपणका एवंभूतनयत्व, सामग्रीभेदसे अभिन्नवस्तुमें भी षट्कारकीका संभव आदि समस्त नयपरिवारका विवेचन है। यहाँ नयप्रवेश समाप्त हो जाता है।

६. प्रवचन प्रवेशमें—प्रमाण, नय और निक्षेपके कथनकी प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोककी ज्ञानकारणताका खंडन, अन्वकारकी ज्ञानका विषय होनेसे आवरणरूपताका अभाव, तज्जन्म, तादृश्य और तदध्यवसायका प्रामाण्यमें अप्रयोजकत्व, श्रुतके सकलादेश विकलादेश रूपसे दो उपयोग, 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यकी विकलादेशता, 'स्याज्जीव एव' इस वाक्यकी सकलादेशता, शब्दकी विवक्षासे भिन्न वास्तविक अर्थकी वाचकता, नैगमादि सात नयोंमेंसे आदिके नैगमादि चार नयोंका अर्थनयत्व, शब्दादि तीन नयोंका शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपोंके लक्षण, अप्रस्तुत निराकरण तथा प्रस्तुत अर्थका निरूपण रूप निक्षेपका फल, इत्यादि प्रवचनके अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेपका निरूपण किया गया है।

न्यायविनिश्चय—धर्मकीतिका एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना गद्यपद्यमय है। न्यायविनिश्चय नाम स्पष्टतया इसी प्रमाणविनिश्चय नामका अनुकरण है। नामकी पसन्दगीमें आन्तरिक

२२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

विषयका निश्चय भी एक खास कारण होता है। सिद्धसेन दिवाकरने अपने न्यायावतारमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोंका विवेचन किया है। अकलंकदेवने न्यायविनिश्चयमें भी तीन प्रस्ताव रखे हैं— १ प्रत्यक्ष प्रस्ताव, २ अनुमान प्रस्ताव, ३ प्रवचन प्रस्ताव। अतः संभव है कि—अकलंकके लिए विषयकी पसन्दगीमें तथा प्रस्तावके विभाजनमें न्यायावतार प्रेरक ही, और इसीलिए उन्होंने न्यायावतारके 'न्याय'के साथ प्रमाणविनिश्चयके 'विनिश्चय' का मेल बैठाकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो। वादिदेवसूरिने स्याद्वाद-रत्नाकर (पृ० २३) में 'धर्मकीतिरपि न्यायविनिश्चयस्य' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चयके तीन परिच्छेदोंमें क्रमशः प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमानका वर्णन है। यदि धर्मकीतिका प्रमाण-विनिश्चयके अतिरिक्त भी कोई न्यायविनिश्चय ग्रन्थ है तब तो ज्ञात होता है कि—प्रस्तावविभाजन तथा नामकरणकी कल्पनामें उसीने कार्य किया है। यह भी संभव है कि—प्रमाणविनिश्चयको ही वादिदेवसूरिने न्यायविनिश्चय समझ लिया हो। इसके तीन प्रस्तावोंमें निम्नविषयोंका विवेचन है—

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्तावमें—प्रत्यक्षका लक्षण, इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण, प्रमाणसम्बलवसूचन, चक्षुरादि-बुद्धियोंका व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापवत्त्व आदि लक्षणोंका खंडन, ज्ञानको परोक्ष माननेका निराकरण, ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखंडन, परमाणुरूप बहिरर्थका निराकरण, अवयवोंसे भिन्न अवयवोंका खंडन, द्रव्यका लक्षण, गुणपर्यायका स्वरूप, सामान्यका स्वरूप, अर्थके उत्पादादादित्रयात्मकत्वका समर्थन, अपोहरूप सामान्यका निरास, व्यक्तिसे भिन्न सामान्यका खण्डन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणका खंडन, बौद्धकल्पित स्वसंवेदनयोगिमानसप्रत्यक्षनिरास, सांख्यकल्पित प्रत्यक्ष-लक्षणका खंडन, नैयायिकके प्रत्यक्षका समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण आदि विषयोंका विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्तावमें—अनुमानका लक्षण, प्रत्यक्षकी तरह अनुमानकी बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभासके लक्षण, बौद्धादिमतोंमें साध्यप्रयोगकी असम्भवता, शब्दका अर्थवाचकत्व, शब्दसंकेतग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवादका निराकरण, गुणगुणि भेदका निराकरण, साधन-साधनाभासके लक्षण, प्रमेयत्व हेतुकी अनेकान्तसाधकता, सत्त्वहेतुकी परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्य खंडन पूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्ककी प्रमाणता, अनुपलम्भहेतुका समर्थन, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरहेतुका समर्थन, असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभासोंका विवेचन, दूषणाभास लक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास विचार, वादका लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंका वर्णन है।

तृतीय प्रवचनप्रस्तावमें—प्रवचनका स्वरूप, सुगतके आप्तत्वका निरास, सुगतके कर्णावत्त्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्वका परिहास, आगमके अपौरुषेयत्वका खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्य-स्वप्नज्ञान तथा ईक्षणिकादिविद्याके दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वरूपण, नैरात्म्यभावनाकी निरर्थकता, मोक्षका स्वरूप, सप्तभंगीनिरूपण, स्याद्वादमें दिये जानेवाले संशयादि दोषोंका परिहार, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रामाण्य, प्रमाणका फल आदि विषयोंका विवेचन है।

लघीयस्त्रयकी तरह न्यायविनिश्चयपर भी स्वयं अकलङ्कृत विवृति अवश्य रही है। जैसा कि न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० १२० B.) के 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्' आदि वाक्योंसे तथा सिद्धिविनिश्चय-टीका (पृ० १२० A.) में न्यायविनिश्चयके नामसे उद्धृत 'नचैतद्बहिरैव' आदि गद्यभागसे पता चलता

है। न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० १६१ B.) में 'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' कहकर 'समारोप-व्यवच्छेदात्'''' श्लोक उद्धृत मिलता है। बहुत कुछ सम्भव है कि इसी विवृतिरूप गद्यभागका ही विवरण-कारने चूर्ण शब्दसे उल्लेख किया हो। न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराजने न्यायविनिश्चयके केवल पद्य-भागका व्याख्यान किया है।

प्रमाणसंग्रह—पं० सुखलालजीकी कल्पना है कि—'प्रमाणसंग्रह नाम दिग्नागके प्रमाणसमुच्चय तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहका स्मरण दिलाता है। यह कल्पना हृदयको लगती है। पर तत्त्वसंग्रहके पहिले भी प्रशस्तपादभाष्यका पदार्थसंग्रह नाम प्रचलित रहा है। संभव है कि संग्रहान्त नामपर इसका भी कुछ प्रभाव हो। जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणों—युक्तियोंका संग्रह ही है। इस ग्रन्थकी भाषा और खासकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनतासे समझने लायक है। अकलंकके इन तीन ग्रन्थोंमें यही ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। मालूम होता है कि यह ग्रन्थ न्यायविनिश्चयके बाद बनाया गया है; क्योंकि इसके कई प्रस्तावोंके अन्तमें न्यायविनिश्चयकी अनेकों कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्यके लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़शैलीसे ज्ञात होता है कि यह अकलंकदेवकी अन्तिम कृति है, और इसमें उन्होंने अपने यावत् अवशिष्ट विचारोंके लिखनेका प्रयास किया है, इसलिए यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओंके उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदोंका विस्तृत विवेचन है; जबकि न्यायविनिश्चयमें मात्र उनका नाम ही लिया गया है। अतः यह सहज ही समझा जा सकता है कि—यह न्यायविनिश्चयके बाद बनाया गया होगा।

इसमें ९ प्रस्ताव हैं, तथा कुल ८७॥ कारिकाएँ।

प्रथम प्रस्तावमें—९ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रत्यक्षका लक्षण, श्रुतका प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाणका फल, मुख्यप्रत्यक्षका लक्षण आदि प्रत्यक्ष विषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्तावमें—९ कारिकाएँ हैं। इनमें स्मृतिका प्रामाण्य, प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणता, तर्कका लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भसे तर्कका उद्भव, कुतर्कका लक्षण, विवक्षाके बिना भी शब्दप्रयोगका संभव, परोक्ष पदार्थोंमें श्रुतसे अविनाभावग्रहण आदिका वर्णन है। अर्थात् परोक्षके भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका निरूपण है।

तृतीय प्रस्तावमें—१० कारिकाएँ हैं। इनमें अनुमानके अवयव साध्य-साधनका लक्षण, साध्याभासका लक्षण, सदसदेकान्तमें साध्यप्रयोगकी असंभवता, सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी साध्यता तथा उसमें दिये जानेवाले संशयादि आठ दोषोंका परिहार आदिका वर्णन है।

चतुर्थ प्रस्तावमें—११॥ कारिकाएँ हैं। इनमें त्रिरूपका खंडन करके अन्यथानुपत्तिरूप हेतुलक्षणका समर्थन, हेतुके उपलब्धि, अनुपलब्धि आदि भेदोंका विवेचन, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरहेतुका समर्थन आदि हेतु-सम्बन्धी विचार हैं।

पंचम प्रस्तावमें—१०॥ कारिकाएँ हैं। इनमें विरुद्धादि हेत्वाभासोंका निरूपण, सर्वथा एकान्तमें सत्त्वहेतुकी विरुद्धता, सहोपलम्भनियमहेतुकी विरुद्धता, विरुद्धाव्यभिचारीका विरुद्धमें अन्तर्भाव, अज्ञात हेतुका अकिञ्चित्करमें अन्तर्भाव आदि हेत्वाभास विषयक प्ररूपण है, तथा अन्तर्व्याप्तिका समर्थन है।

षष्ठ प्रस्तावमें—१२॥ कारिकाएँ हैं। इनमें वादका लक्षण, जयपराजय व्यवस्थाका स्वरूप, जातिक लक्षण, दध्युष्टृत्वादिके अभेदप्रसंगका जात्युत्तरत्व, उत्पादादित्रयात्मकत्वसमर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करनेमें सत्त्वहेतुका सिद्धसेनादिके मतसे असिद्धत्वादिनिरूपण आदि वादविषयक कथन है। अन्तमें—धर्मकीति आदिने अपने ग्रन्थोंमें प्रतिवादियोंके प्रति जिन जाड्य आदि अपशब्दोंका प्रयोग किया है उनका बहुत सुन्दर

२४ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

मुंहतोड़ उत्तर दिया है। लिखा है कि—शून्यवाद, संवृतिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, परमाणुसंचय-को प्रत्यक्षका विषय मानना, अपोहवाद तथा मिथ्यासन्तान ये सात बातें माननेवाला ही वस्तुतः जड़ है। प्रतिज्ञाको असाधन कहना, अदृश्यानुपलब्धिको अगमक कहना आदि ही अह्नीकता—निलंज्जता है। निर्विकल्पकप्रत्यक्षके सिवाय सब ज्ञानोंको भ्रान्त कहना, साकार ज्ञान मानना, क्षणभङ्गवाद तथा असत्कार्यवाद ही पशुताके द्योतक हैं। परलोक न मानना, शास्त्र न मानना, तप-दान देवता आदिसे इन्कार करना ही अलौकिकता है। अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदिमें शब्द-वेदको ही प्रमाण मानना, किसी चेतनको उसका ज्ञाता न कहना ही तामस है। संस्कृत आदि शब्दोंमें साधुता, असाधुताका विचार तथा उनके प्रयोगमात्रसे पुण्य-पाप मानना ही प्राकृत-ग्रामीणजनका लक्षण है।

सप्तम प्रस्तावमें—१० कारिकाएँ हैं। इसमें प्रवचनका लक्षण, सर्वज्ञतामें किये जानेवाले सन्देहका निराकरण, अपौरुषेयत्वका खंडन, तत्त्वज्ञानचारित्रकी मोक्षहेतुता आदि प्रवचन सम्बन्धी विषयोंका विवेचन है।

अष्टम प्रस्तावमें—१३ कारिकाएँ हैं। इनमें सप्तभंगीका निरूपण तथा नैगमादिनयोंका कथन है।

नवम प्रस्तावमें—२ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रमाणनय और निक्षेपका उपसंहार है।

३. रचनाशैली

अकलङ्कके ग्रंथ दो प्रकारके हैं—१. टीका ग्रंथ, २. स्वतन्त्र प्रकरण। टीका ग्रंथोंमें राजवार्तिक तथा अष्टशती हैं। स्वतन्त्र ग्रंथोंमें लघीयस्त्रयसविवृति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति और प्रमाणसंग्रह ये चार ग्रंथ निश्चितरूपसे अकलंककर्तृक हैं। परम्परागत प्रसिद्धिकी दृष्टिसे स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूल्का, अकलंक प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रायश्चित्तसंग्रह आदि हैं, जिनके कर्ता प्रसिद्ध अकलंकदेव न होकर अन्य अकलंक हैं।

राजवार्तिकके सिवाय प्रायः सभी ग्रंथ अष्टशती जितने ८०० श्लोक प्रमाण ही मालूम होते हैं। धर्म-कीर्तिके हेतुबिन्दु, वादन्याय, प्रमाणविनिश्चय ग्रंथ भी करीब-करीब इतने ही छोटे हैं। उस समय संक्षिप्त पर अर्थबहुल, गम्भीर तथा तलस्पर्शी प्रकरणोंकी रचनाका ही युग था।

अकलंक जब आगमिक विषयपर कलम उठाते हैं तब उनके लेखनकी सरलता, विशदता एवं प्रसाद गुणका प्रवाह पाठकको पढ़नेसे ऊबने नहीं देता। राजवार्तिककी प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण है। परन्तु जब वही अकलंक तार्किक विषयोंपर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते हैं। अकलंकके प्रस्तुत संस्करणमें मुद्रित प्रकरणग्रंथ अत्यन्त जटिल, गूढ़ एवं इतने संक्षिप्त हैं कि कहीं-कहीं उनका आधार लेकर टीकाकारों द्वारा किये गये अर्थ अकलंकके मनोगत थे या नहीं यह सन्देह होने लगता है। अकलंकके प्रकरणोंकी यथार्थज्ञताका दावा करनेवाले अनन्तवीर्य भी इनकी गूढ़ताके विषयमें बरबस कह उठते हैं कि—

“देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यवत्तं तु सर्वथा । न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥”

अर्थात्—“अनन्तवीर्य भी अकलंक देवके पदोंके व्यवत्त अर्थको नहीं जान पाता यह बड़ा आश्चर्य है।” ये अनन्तवीर्य उस समय अकलंकके प्रकरणोंके मर्मज्ञ, तलद्रष्टा समझे जाते थे। प्रभाचन्द्र एवं वादिराज अनन्त-वीर्यकी अकलंकीय प्रकरणोंकी तलस्पर्शिताका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—“मैंने त्रिलोकके यावत् पदार्थोंको संक्षेपरूपसे वर्णन करनेवाली अकलंककी पद्धतिकी अनन्तवीर्यकी उक्तियोंका सैकड़ों बार अभ्यास करके समझ पाया है।” “अकलंकके गूढ़ प्रकरणोंको यदि अनन्तवीर्यके वचनदीप प्रकट न करते तो उन्हें कौन समझ सकता था ?” आदि।

सविवृति लघीयस्त्रयपर प्रभाचन्द्रकी टीका उपलब्ध होनेसे तथा उसका विषय कुछ प्रारम्भिक होनेसे समझनेमें उतनी कठिनाई नहीं मालूम होती जितनी न्यायविनिश्चयमें । प्रमाणसंग्रहमें तो यह कठिनाई अपनी चरमसीमाको पहुँच जाती है । एक ही प्रकरणमें अनेक चर्चाओंका समावेश हो जानेसे तो यह जटिलता और भी बढ़ जाती है । उदाहरणार्थ—न्यायविनिश्चयमें भूतचैतन्यवादका निराकरण करते हुए जहाँ यह लिखा है कि ज्ञान भूतोंका गुण नहीं है, वहीं लगे हाथ गुण शब्दका व्याख्यान तथा वैशेषिकके गुणगुणिभेदका खंडन भी कर दिया है । समझनेवाला इससे विषयके वर्गीकरणमें बड़ी कठिनाईका अनुभव करता है । अकलंकदेवका षड्दर्शनका गहरा अभ्यास तथा बौद्धशास्त्रोंका अतुलभावनापूर्वक आत्मसात्करण ही उनके प्रकरणोंकी जटिलतामें कारण मालूम होता है । वे यह सोचते हैं कि कम-से-कम शब्दोंमें अधिकसे अधिक सूक्ष्म और बहुपदार्थ ही नहीं किन्तु बहुविध पदार्थ लिखा जाय । उनकी यह शब्दसंक्षिप्तता बड़े-बड़े प्रकाण्डपण्डितोंको अपनी बुद्धिको मापनेका मापदण्ड बन रही है । धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्तिको देखकर तो यह और भी स्पष्ट मालूम होने लगता है कि उस समय कुछ ऐसी ही सूत्र रूपसे लिखने की परम्परा थी । लेखनशैलीमें परिहासका पुट भी कहीं-कहीं बड़ी व्यंजनाके साथ मिलता है, जैसे—न्यायविनिश्चयमें धर्मकीर्तिके—“जब सब पदार्थ द्रव्यरूपसे एक हैं तब दही और ऊँट भी द्रव्यरूपसे एक हुए, अतः दहीको खानेवाला ऊँटको क्यों नहीं खाता ?” इस आक्षेपका उत्तर देते हुए लिखा है कि—भाई, जैसे सुगत पूर्व भवमें मृग थे, तथा मृग भी सुगत हुआ था, अतः सन्तानदृष्टिसे एक होनेपर भी आप मृगकी जगह सुगतको क्यों नहीं खाते और मृगकी बन्दना क्यों नहीं करते ? अतः जिस तरह वहाँ पर्यायभेद होनेसे बन्धत्व और खाद्यत्व की व्यवस्था है उसी तरह दही और ऊँटके शरीरमें पुद्गलद्रव्यरूपसे एकता होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा भिन्नता है । यथा—

“सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतस्तथा । तथापि सुगतो बन्धो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः । चीदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिभावति ॥”

—न्यायवि० ३।३७३-७४

अकलंकके प्रकरणोंका सूक्ष्मतासे अनुसंधान करनेपर मालूम होता है कि—अकलंकदेवकी सीधी चोट बौद्धोंके ऊपर है । इतरदर्शन तो प्रसंगसे ही चर्चित हैं, और उनकी समालोचनामें बौद्धदर्शनका सहारा भी लिया गया है । बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकसे तो अनेकों पूर्वपक्ष शब्दशः लेकर समालोचित हुए हैं । धर्मकीर्तिके साथ ही साथ उनके शिष्य एवं टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि प्रभृति भी अकलंकके द्वारा युक्तिजालोंमें लपेटे गये हैं । जहाँ भी मौका मिला सौत्रान्तिक या विज्ञानवादीके ऊपर पूरा-पूरा प्रहार किया गया है । कुमारिलकी सर्वज्ञताविरोधिनी युक्तियाँ प्रबलप्रमाणोंसे खंडित की गई हैं । जैननिरूपणमें समन्त-भद्र, पूज्यपादका प्रभाव होनेपर भी न्यायविनिश्चयमें सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतार तथा लघीयस्त्रयके नयनिरूपणमें सन्मतितर्कके नयकाण्ड तथा मल्लवादिके नयचक्रका भी प्रभाव है । उत्तरकालीन ग्रंथकार अनंत-वीर्य, माणिवयनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, शान्तिसूरि, वादिराज, वादिदेव, हेमचन्द्र तथा यशो-विजय आदि सभी आचार्योंने अकलंकके द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायकी रेखाका विस्तार किया तथा उनके वाक्योंको बड़ी श्रद्धासे उद्धृतकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की है ।

अकलंक द्वारा प्रणीत व्यवस्थामें अनुपपत्ति शान्तिसूरि तथा मलयगिरि आचार्योंने दिखाई है । शान्तिसूरिने जैनतर्कवार्तिकमें अकलंक द्वारा प्रमाणसंग्रहमें प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमनिमित्तक त्रिविध श्रुतकी जगह द्विविध-अनुमानज और शब्दज श्रुत माना है । मलयगिरि आचार्योंने सम्यग्नयमें स्यात्पदके प्रयोगका इस आधारपर समालोचन किया है कि स्यात् पदका प्रयोग करनेसे तो प्रमाण और नयमें कोई भेद नहीं रहेगा । पर इसका उत्तर उ० यशोविजयने गुरुत्वविनिश्चयमें दे दिया है कि—मात्र स्यात् पदके प्रयोगसे प्रमाण

और नयमें भेदाभाव नहीं हो सकता। नयान्तरसापेक्षनय यदि प्रमाण हो जाय तब तो व्यवहारादि सभी नयों-को प्रमाण मानना होगा। इस तरह उपाध्यायजीने अकलंकके मतका ही समर्थन किया है।

आन्तरिक विषयपरिचय

इस परिचयमें अकलंकदेवने प्रस्तुत तीनों ग्रन्थोंमें जिन विषयोंपर संक्षेप या विस्तारसे जो भी लिखा है, उन विषयोंका सामान्य परिचय तथा अकलंकदेवके वक्तव्यका सार दिया है। इससे योग्यभूमिवाले जैनन्यायके अभ्यासियोंका अकलंकके ग्रन्थोंमें प्रवेश तो होगा ही, साथ ही साथ जैनन्यायके रसिक अध्यापकों-को जैनन्यायसे सम्बन्ध रखनेवाले दर्शनान्तरीय विषयोंकी अनेकों महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी मिल सकेंगी। इसमें प्रसंगतः जिन अन्य आचार्योंके मतोंकी चर्चा आई है उनके अवतरण देखनेके लिए उस विषयके टिप्पणोंकी ध्यानसे देखना चाहिए। इस परिचयको ग्रंथशः नहीं लिखकर तीनों ग्रन्थोंके मुख्य-मुख्य विषयोंका संकलन करके लिखा है जिससे पाठकोंको विशेष सुविधा रहेगी। यह परिचय मुख्यतयासे प्रमाण, प्रमेय, नय, निक्षेप और सप्तभंगीरूपसे स्थूल विभाग करके लिखा गया है।

१. प्रमाणनिरूपण

प्रमाणसामान्यविचार—समन्तभद्र और सिद्धसेनने प्रमाणसामान्यके लक्षणमें स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधवर्जित पद रखे हैं, जो उस समयके प्रचलित लक्षणोंसे जैनलक्षणको व्यावृत्त कराते थे। साधारणतया 'प्रमाकरण' प्रमाणम्' यह लक्षण सर्वमान्य था। विवाद था तो इस विषयमें कि वह करण कौन हो? न्याय-भाष्यमें करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनोंका स्पष्टतया निर्देश है। यद्यपि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानको स्वसंवेदी मानते रहे हैं, पर वे करणके स्थानमें साहस्य या योग्यताको रखते हैं। समन्तभद्रादिने करणके स्थानमें स्वपरावभासक ज्ञान पद रखके ऐसे ही ज्ञानको प्रमाण माना जो स्व और पर उभयका अवभासन करनेवाला हो। अकलंकदेवने इस लक्षणमें अविश्वस्यवादि और अनधिगतार्थग्राहि इन दो नए पदोंका समावेश करके अवभासकके स्थानमें व्यवसायात्मक पदका प्रयोग किया है। अविश्वस्यवादि तथा अज्ञातार्थप्रकाश पद स्पष्टरूपसे धर्मकीर्तिके प्रमाणके लक्षणसे आए हैं तथा व्यवसायात्मक पद न्यायसूत्र से। इनकी लक्षणसंघटनके अनुसार स्व और परका व्यवसाय-निश्चय करनेवाला, अविश्वस्यवादि-संशयादि समारोपका निरसन करनेवाला और अनधिगतार्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होगा।

प्रमाणसम्प्लव विचार—यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार धर्मोत्तरने अज्ञातार्थप्रकाश और अनधिगतार्थग्राहि शब्दोंका प्रयोग करके प्रमाणसम्प्लवका निषेध किया है। एक प्रमेयमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति को प्रमाणसम्प्लव कहते हैं। बौद्ध पदार्थोंको एकक्षणस्थायी मानते हैं। उनके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थ ज्ञानमें कारण होता है। अतः जिस विवक्षित पदार्थसे कोई भी प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह पदार्थ दूसरे क्षणमें नियमसे नष्ट हो जाता है। इसलिए किसी भी अर्थमें दो ज्ञानोंके प्रवृत्त होनेका अवसर ही नहीं है। दूसरे, बौद्धोंने प्रमेयके दो भेद किए हैं—१. विशेष (स्वलक्षण), २. सामान्य (अन्यापोहरूप)। विशेष पदार्थको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष है तथा सामान्यको जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह विषयद्वैविध्यात्मक व्यवस्था होनेसे कोई भी प्रमाण अपनी विषयमर्यादाको नहीं लाँघ सकता। इसलिए विजातीय प्रमाणकी तो स्वनियत विषयसे भिन्न प्रमेयमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तरके सम्प्लवकी बात, सो द्वितीय क्षणमें जब वह पदार्थ रहता ही नहीं है तब सम्प्लवकी चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि—'जैन तो पदार्थको एकान्तक्षणिक नहीं मानते और न विषयद्वैविध्यको

ही। जैनकी दृष्टिसे तो एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थ सभी प्रमाणोंका विषय होता है। तब अनधिगतार्थग्राहि पदका जैनोक्त प्रमाणलक्षणमें क्या उपयोग हो सकता है?’ अकलंकदेवने इसका उत्तर दिया है कि—वस्तु अनन्तधर्मवाली है। अमुक ज्ञानके द्वारा वस्तुके अमुक अंशोंका निश्चय होनेपर भी अगृहीत अंशोंको जाननेके लिए प्रमाणान्तरको अवकाश रहता है। इसी तरह जिन ज्ञान अंशोंमें संवाद हो जानेसे निश्चय हो गया है, उन अंशोंमें भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करें पर जिन अंशोंमें असंवाद होनेसे अनिश्चय या विपरीतनिश्चय है उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेष परिच्छेदक होनेके कारण अनधिगतग्राहिरूपसे प्रमाण ही हैं। प्रमाणसम्प्लवके विषयमें यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि—अकलंकदेवने प्रमाणके लक्षणमें अनधिगतार्थग्राहि पदके प्रवेश करनेके कारण अनिश्चितांशके निश्चयमें या निश्चितांशमें उपयोग-विशेष होनेपर प्रमाणसम्प्लव माना है, जब कि नैयायिकने अपने प्रमाणलक्षणमें ऐसा कोई पद नहीं रखा, अतः उसकी दृष्टिसे वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिल जायें तो अवश्य ही प्रमाणकी प्रवृत्ति होगी, इसी तरह उपयोग विशेष हो या न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नहीं होगा कि उसने गृहीत को ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि नैयायिकको प्रत्येक अवस्थामें प्रमाणसम्प्लव स्वीकृत है।

अकलंकदेवने बौद्धमतमें प्रमाणसम्प्लवकी असंभवताके कारण ‘अनुमानकी अप्रवृत्ति’ रूप दूषण देते हुए कहा है कि—जब आपके यहाँ यह नियम है कि प्रत्यक्षके द्वारा वस्तुके समस्त गुणोंका दर्शन हो जाता है; तब प्रत्यक्षके द्वारा सर्वाशतया गृहीत वस्तुमें कोई भी अनधिगत अंश नहीं बचा, जिसके ग्रहणके लिए अनुमानको प्रमाण माना जाय। अनुमानके विषयभूत अन्यापोहरूप सामान्यमें विपरीतारोपकी संभावना नहीं है, अतः समारोपव्यवच्छेदार्थ भी अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अकलंकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दिने अनधिगतार्थकी जगह कुमारिलके अपूर्वार्थ पदको स्थान दिया। पर विद्यानन्द तथा उनके बाद अभयदेव, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि आचार्योंने अनधिगत या अपूर्वार्थ किसी भी पदको अपने लक्षणोंमें नहीं रखा।

ज्ञान का स्व-परसंवेदन विचार—ज्ञानके स्वरूपसंवेदनके विषयमें निम्न वाद हैं—१. मीमांसकका परोक्षज्ञानवाद, २. नैयायिकका ज्ञानान्तरवेदज्ञानवाद, ३. सांख्यका प्रकृतिपर्यायात्मक ज्ञानका पुरुष द्वारा संचेतनवाद, ४. बौद्धका साकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद, ५. जैनका निराकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद। अकलंकदेवने इतर वादोंकी समालोचना इस प्रकार की है—

परोक्षज्ञानवादनिरास—यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने स्वरूपको न जान सके, तब उस परोक्षज्ञानके द्वारा जाना गया पदार्थ हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकेगा; क्योंकि आत्मान्तरके ज्ञानसे हमारे ज्ञानमें यही स्वकीयत्व है कि वह हमारे स्वयं प्रत्यक्षका विषय है, उसे हम स्वयं उसीके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जब कि आत्मान्तरके ज्ञानको हम स्वयं उसीके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं करते। यही कारण है कि आत्मान्तरके ज्ञानके द्वारा हमें पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता। जब ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं तब उसकी सिद्धि अनुमानसे भी कैसे होगी? क्योंकि अस्वसंविदित अर्थप्रकाशरूप लिंगसे अज्ञात धर्म-ज्ञानका अविनाभाव ही गृहीत नहीं है। अर्थप्रकाशको स्वसंविदित माननेपर तो ज्ञानकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी; क्योंकि स्वार्थसंवेदी अर्थप्रकाशसे स्व और अर्थ उभयका परिच्छेद हो सकता है। इसी तरह विषय, इन्द्रिय, मन आदि भी परोक्ष ज्ञानका अनुमान नहीं करा सकते; क्योंकि एक तो इनके साथ ज्ञानका अविनाभाव असिद्ध है, दूसरे इनके होनेपर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता अतः ये व्यभिचारी भी हैं। यदि विषयजन्य ज्ञानात्मक सुखादि परोक्ष हैं; तब उनसे हमें अनुग्रह या परिताप नहीं हो सकेगा। अपने सुखादिको अनुमानग्राह्य मानकर अनुग्रहादि मानना तो अन्य आत्माके सुखसे व्यभिचारी है, अर्थात् परकीय आत्माके सुखादिका हम उसकी

प्रसाद-विषादादि चेष्टाओंसे अनुमान तो कर सकते हैं पर उनसे अनुग्रहादि तो हमें नहीं होता । ज्ञानको परोक्ष माननेपर आत्मान्तरकी बुद्धिका अनुमान करना भी कठिन हो जायगा । परकीय आत्मामें बुद्धिका अनुमान व्यापार वचनादि चेष्टाओंसे किया जाता है । यदि हमारा ज्ञान हमें ही अप्रत्यक्ष है, तब हम ज्ञानका व्यापारिके साथ कार्यकारणरूप अविनाभाव अपनी आत्मामें तो ग्रहण ही नहीं कर सकेंगे, अन्य आत्मामें तो अभी तक ज्ञानका सद्भाव ही असिद्ध है । अतः अविनाभावका ग्रहण न होनेसे परकीय आत्मामें बुद्धिका अनुमान नहीं हो सकेगा ।

नैयायिकके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका निराकरण—यदि प्रथमज्ञानका प्रत्यक्ष द्वितीयज्ञानसे माना जाय और इसी तरह अस्वसंवेदी तृतीयादिज्ञानसे द्वितीयादिज्ञानोंका प्रत्यक्ष; तब अनवस्था नामका दूषण ज्ञानके सद्भाव सिद्ध करनेमें बाधक हीगा, क्योंकि जब तक आगे-आगेके ज्ञान अपने स्वरूपका निश्चय नहीं करेंगे तब तक वे पूर्वपूर्वज्ञानोंको नहीं जान सकेंगे । और जब प्रथमज्ञान ही अज्ञात रहेगा तब उसके द्वारा अर्थका ज्ञान असंभव हो जायगा । इस तरह जगत् अर्थनिश्चयशून्य हो जायगा । एक ज्ञानके जाननेमें ही जब इस तरह अनेकानेक ज्ञानोंका प्रवाह चलेगा, तब तो ज्ञानकी विषयान्तरमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी । यदि अप्रत्यक्षज्ञानसे अर्थबोध माना जाय; तब तो हम लोग ईश्वरज्ञानके द्वारा भी समस्त पदार्थोंको जानकर सर्वज्ञ बन जायेंगे, क्योंकि अभी तक हम लोग सर्वज्ञके ज्ञानके द्वारा अर्थोंको इसी कारणसे नहीं जान सकते थे कि वह हमारे स्वयं अप्रत्यक्ष है ।

सांख्यके प्रकृतिपर्यायात्मकज्ञानवाद निरसन—यदि ज्ञान प्रकृतिका विकार होनेसे अचेतन है तथा वह पुरुषके सचेतन द्वारा अनुभूत होता है; तो फिर इस अकिञ्चित्कर ज्ञानका क्या प्रयोजन ? क्योंकि उसी ज्ञानस्वरूपसंचेतक पुरुषानुभवके द्वारा अर्थका भी परिज्ञान हो जायगा । यदि वह सञ्चेतन स्वप्रत्यक्ष नहीं है; तब इस अकिञ्चित्कर ज्ञानकी सत्ता किससे सिद्ध की जायगी ? ज्ञान विषयक सञ्चेतना जो कि अनित्य है, अविकारी कूटस्थनित्य पुरुषका धर्म भी कैसे हो सकती है ? अतः ज्ञान परिणामी पुरुषका ही धर्म है और वह स्वार्थसंवेदक होता है । इसी तरह यदि अर्थसञ्चेतना स्वार्थसंवेदक है; तब तद्व्यतिरिक्त अकिञ्चित्कर पुरुषके माननेका भी क्या प्रयोजन ? यदि वह अस्वसंवेदक है; तब पूर्वज्ञान तथा पुरुषकी सिद्धि किससे होगी ?

बौद्धिके साकारज्ञानवादका निरास—साकारज्ञानवादी निराकारज्ञानवादियोंको ये दूषण देते हैं कि—‘यदि ज्ञान निराकार है, उसका किसी अर्थके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है; तब प्रतिकर्मव्यवस्था-घटज्ञानका विषय घट ही है पट नहीं—कैसे होगी ? तथा विषयप्रतिनियम न होनेसे सब अर्थ एक ज्ञानके या सब ज्ञानोंके विषय हो जायेंगे । विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञानमें कोई भेद नहीं रहेगा । इनमें यही भेद है कि विषयज्ञानजहाँ केवल विषयके आकार होता है तब विषयज्ञानज्ञान अर्थ और अर्थकारज्ञान दोनोंके आकारको धारण करता है । विषयकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए ज्ञानको साकार मानना आवश्यक है ।’ अकलंकदेवने इनका समाधान करके ज्ञानको निराकार सिद्ध करते हुए लिखा है कि—विषयप्रतिनियमके लिए ज्ञानकी अपनी शक्ति ही नियामक है । जिस ज्ञानमें जिस प्रकारकी जितनी शक्ति होगी उससे उतनी और उसी प्रकारकी अर्थव्यवस्था होगी ।

इस स्वशक्तिको न मानकर ज्ञानको साकार माननेपर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि ‘घटज्ञान घटके ही आकार क्यों हुआ पटके आकार क्यों नहीं हुआ ?’ तदुत्पत्तिसे तो आकारनियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि जिस तरह घटज्ञान घटसे उत्पन्न हुआ है उसी तरह इन्द्रिय, आलोक आदि पदार्थोंसे भी तो

उत्पन्न हुआ है, अतः उनके आकारको भी उसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान विषयके आकारको यदि एकदेशसे ग्रहण करता है; तब तो ज्ञान सांश हो जायगा। यदि सर्वदेशसे तो ज्ञान अर्थकी तरह जड़ हो जायगा। समानकालीन पदार्थ किसी तरह आकार ज्ञानमें समर्पित कर सकते हैं पर अतीत और अनागत पदार्थोंके जाननेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमानादि ज्ञान कैसे उन अविद्यमान पदार्थोंके आकार हो सकते हैं? हाँ, शक्तिप्रतिनियम माननेसे अतीतादि पदार्थोंका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है। ज्ञानका अमुक अर्थको विषय करना ही अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्त होना है। अतः ज्ञानको निराकर मानना ही ठीक है। अमूर्त ज्ञानमें मूर्त अर्थका प्रतिबिम्ब भी कैसे आ सकता है ?

सौत्रान्तिकको ज्ञानके साकार होनेका 'ज्ञानमें अर्थका प्रतिबिम्ब पड़ता है।' यह अर्थ इष्ट था या नहीं यह तो विचारणीय है। पर विज्ञानवादी बौद्धोंने उसका खण्डन यही अर्थ मानकर किया है और उसीका प्रतिबिम्ब अकलंककृत खण्डनमें है।

इस तरह अकलंकने स्वार्थव्यवसायात्मक, अनधिगतार्थग्राहि, अविस्वादि ज्ञानको प्रमाण कहा है। इस लक्षणके अनधिगतार्थग्राहित्व विशेषण के सिवाय बाकी अंश सभी जैन तार्किकोंने अपनाए हैं। अनधिगतार्थग्राहित्वकी परम्परा माणिक्यनन्दि तक ही चली। आ० हेमचन्द्रने स्वनिर्णयको भी प्रमाणके व्यावर्तक लक्षणमें नहीं रखा; क्योंकि स्वनिर्णय तो ज्ञानसामान्यका धर्म है न कि प्रमाणात्मक विशेषज्ञानका। अकलंकदेवने जहाँ अज्ञानात्मक सन्निकर्षादिकी प्रमाणताका व्यवच्छेद प्रमितिक्रियामें अव्यवहित करण न होनेके कारण किया है, वहाँ ज्ञानात्मक संशय और विपर्ययका विस्वादी होनेसे तथा निर्विकल्पज्ञानका संव्यवहारानुपयोगी होनेके कारण निरास किया है। इसी संव्यवहारानुपयोगी पदसे सुषुप्त चैतन्यके समान निर्विकल्पकदर्शन भी प्रमाणकोटिसे बहिर्भूत है इसकी सूचना मिलती है।

प्रमाणके भेद—तत्त्वार्थसूत्रके 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रको लक्ष्यमें रखकर ही अकलंकने प्रमाणके दो मूल भेद किए हैं। यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्षके कई अवान्तर भेद मानना पड़े हैं। इसीलिए उनने 'प्रमाणे इति संग्रहः' पद देकर उस भेदके आधारभूत सूत्रकी सूचना दी है। वे दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्रमें मति (इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) इन ज्ञानोंको मतिसे अनर्थान्तर अर्थात् मतिज्ञानरूप बताया है। मतिज्ञानका परोक्षत्व भी वहीं स्वीकृत है। अतः उक्तज्ञान जिनमें इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष भी शामिल है आगमिकपरम्परामें स्पष्टरूपसे परोक्ष है। पर लोकव्यवहार तथा दर्शनान्तरोंमें इन्द्रियान्द्रियज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ही प्रसिद्ध तथा व्यवहृत होते हैं। यद्यपि अकलंकदेवके पहिले आ० सिद्धसेन दिवाकरने अपने न्यायावतारमें प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणोंका कथन किया है, पर प्रमाणोंकी व्यावर्तक संख्या अभी तक अनिश्चितसी ही रही है। अकलंकदेवने सूत्रकारकी परम्पराकी रक्षा करते हुए लिखा है कि—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्दयोजनासे पहिले मतिज्ञान तथा शब्दयोजनाके अनन्तर श्रुतज्ञान कहे जायँ। श्रुतज्ञान परोक्ष कहा जाय। मतिज्ञानमें अन्तर्भूत मति—इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्षको लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध होनेके कारण तथा वैज्ञानिकसका सद्भाव होनेसे संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाय। प्रत्यक्षके इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये तीन मूलभेद हों।

इस वक्तव्यका यह फलितार्थ हुआ कि प्रत्यक्षके दो भेद—१. सांख्यव्यवहारिक, २. मुख्य। सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षके दो भेद—१. इन्द्रियप्रत्यक्ष, २. अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणादिज्ञान। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष—शब्दयोजनासे पहिलेकी अवस्थावाले स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान। इस तरह अकलंकदेवने प्रमाणके भेद किए जो निर्विवाद रूपसे उत्तरकालीन ग्रन्थकारों द्वारा माने गए।

हाँ, इसमें जो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञानको शब्दयोजनाके पहिले अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्यने स्वीकार नहीं किया। उन्हें सर्वांशमें अर्थात् शब्दयोजनाके पूर्व और पश्चात् दोनों अवस्थाओंमें परोक्ष ही कहा है। यही कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्रने लघीयस्त्रयकी 'ज्ञानमाद्यं' कारिकाका यह अर्थ किया है कि—'मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान शब्दयोजनाके पहिले तथा शब्दयोजनाके बाद दोनों अवस्थाओंमें श्रुत हैं अर्थात् परोक्ष हैं।'

यद्यपि जिनभद्रगणिकमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्यमें प्रत्यक्षके दो भेद करके इन्द्रियानिन्द्रियज-प्रत्यक्षको संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा है, पर उन्होंने स्मृति आदि ज्ञानोंके विषयमें कुछ खास नहीं लिखा। इन्द्रिय-प्रत्यक्षको संव्यवहारप्रत्यक्ष मान लेनेसे लोकप्रसिद्धिका निर्वाह तथा दर्शनान्तरप्रसिद्धिका समन्वय भी हो गया और सूत्रकारका अभिप्राय भी सुरक्षित रह गया।

प्रत्यक्ष—सिद्धसेनदिवाकरने प्रत्यक्षका—'अपरोक्ष रूपसे अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परोक्षलक्षणाश्रित लक्षण किया है। यद्यपि विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेकी परम्परा बौद्धोंमें स्पष्ट है, फिर भी प्रत्यक्षके लक्षणमें अकलंकके द्वारा विशद पदके साथ ही साथ प्रयुक्त साकार और अंजसा पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पकज्ञान जैनपरम्परामें प्रसिद्ध-इन्द्रिय और पदार्थके योग्यदेशावस्थितिरूप सन्निकर्षके बाद उत्पन्न होनेवाले, तथा सत्तात्मक महासामान्यका आलोचन करने-वाले अनाकार दर्शनके समान है। अकलंकदेवकी दृष्टिमें जब निर्विकल्पकदर्शन प्रमाणकोटिसे ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता। इसी बातकी सूचनाके लिए उन्होंने प्रत्यक्षके लक्षणमें साकार पद रखा, जो निराकारदर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्षका निराकरणकर निश्चयात्मक विशद ज्ञानको ही प्रत्यक्षकोटिमें रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद होनेवाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पों-को भी संव्यवहारसे प्रमाण मान लेते हैं। इसका मूल यह है कि—प्रत्यक्षके विषयभूत दृश्य-स्वलक्षणमें विकल्पके विषयभूत विकल्पसामान्यका आरोपरूप एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करनेपर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है। अतः विकल्पज्ञान संव्यवहारसे विशद है। इसका निराकरण करनेके लिए अकलंकदेवने 'अञ्जसा' पदका उपादान करके सूचित किया कि विकल्पज्ञान संव्यवहारसे नहीं किन्तु अंजसा—परमार्थरूपसे विशद है।

अनुमान आदि ज्ञानोंसे अधिक विशेषप्रतिभासका नाम वैशद्य है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तरकी अपेक्षा करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रखता, यही अनुमानादिसे प्रत्यक्षमें अतिरेक-अधिकता है।

अकलंकदेवने इतरवादिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

बौद्ध—जिसमें शब्दसंसर्गकी योग्यता नहीं है ऐसे निर्विकल्पज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं सविकल्प-को नहीं, क्योंकि विकल्पज्ञान अर्थके अभावमें भी उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा यद्यपि अर्थमें रहनेवाले क्षणिकत्वादि सभी धर्मोंका अनुभव हो जाता है, पर वह नीलादि अंशोंमें 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञानके द्वारा व्यवहारसाधक होता है, तथा क्षणिकत्वादि अंशोंमें यथासंभव अनुमानादि विकल्पों द्वारा। अतः निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पोंका उत्पादक होनेसे तथा अर्थस्वलक्षणसे उत्पन्न होनेके कारण प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है; क्योंकि वह परमार्थसत् स्वलक्षणसे उत्पन्न नहीं होता। सर्वप्रथम अर्थसे निर्विकल्प ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्पकमें असाधारण क्षणिक परमाणुओंका प्रतिभास होता है। उस निर्विकल्पक अवस्थामें कोई भी विकल्प अनुभवमें नहीं आता। विकल्पज्ञान कल्पितसामान्यको विषय करनेके कारण तथा निर्विकल्पकके द्वारा गृहीत अर्थको ग्रहण करनेके कारण प्रत्यक्षाभास है।

अकलंकदेव इसका निराकरण इस तरह करते हैं—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाणका अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहारमें साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पज्ञानमें ही है, तब क्यों न उसे ही प्रमाण माना जाय ? निर्विकल्पकमें प्रमाणता लानेको आखिर आपको सविकल्पज्ञान तो मानना ही पड़ता है। यदि निर्विकल्पके द्वारा गृहीत नीलाद्यंशको विषय करनेसे विकल्पज्ञान अप्रमाण है; तब तो अनुमान भी प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत क्षणिकत्वादिको विषय करनेके कारण प्रमाण नहीं हो सकेगा। निर्विकल्पसे जिस प्रकार नीलाद्यंशोंमें 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार क्षणिकत्वादि अंशोंमें भी 'क्षणिकमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होना चाहिए। अतः व्यवहारसाधक सविकल्पज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाने योग्य है। विकल्पज्ञान ही विशदरूपसे हर एक प्राणीके अनुभवमें आता है, जबकि निर्विकल्पज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं है। प्रत्यक्षसे तो स्थिर स्थूल अर्थ ही अनुभवमें आते हैं, अतः क्षणिक परमाणुका प्रतिभास कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। निर्विकल्पकको स्पष्ट होनेसे तथा सविकल्पको अस्पष्ट होनेसे विषयभेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि एक ही वृक्ष दूरवर्ती पुरुषको अस्पष्ट तथा समीपवर्तीको स्पष्ट देखता है। आद्यप्रत्यक्षकालमें भी कल्पनाएँ बराबर उत्पन्न तथा विनष्ट तो होती ही रहती हैं, भले ही वे अनुपलक्षित रहें। निर्विकल्पसे सविकल्पककी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि अशब्द निर्विकल्पकसे शब्द विकल्पज्ञान उत्पन्न हो; तो शब्दसून्य अर्थसे ही विकल्पकी उत्पत्ति माननेमें क्या बाधा है ? अतः मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्तादि यावद्विकल्पज्ञान संवादी होनेसे प्रमाण है। जहाँ ये विसंवादी हों वहाँ इन्हें अप्रमाण कह सकते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें अर्थक्रियास्थिति-अर्थात् अर्थक्रियासाधकत्व रूप अविसंवादका लक्षण भी नहीं पाया जाता, अतः उसे प्रमाण कैसे कह सकते हैं ? शब्दसंसृष्ट ज्ञानको विकल्प मानकर अप्रमाण कहनेसे शास्त्रोपदेशसे क्षणिकत्वादिकी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

मानसप्रत्यक्ष निरास—बौद्ध इन्द्रियज्ञानके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले विशद ज्ञानको, जो कि उसी इन्द्रियज्ञानके द्वारा ग्राह्य अर्थके अनन्तरभावी द्वितीयक्षणको जानता है, मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—एक ही निश्चयात्मक अर्थसाक्षात्कारी ज्ञान अनुभवमें आता है। आपके द्वारा बताए गए मानस प्रत्यक्षका तो प्रतिभास ही नहीं होता। 'नीलमिदम्' यह विकल्पज्ञान भी मानसप्रत्यक्षका असाधक है; क्योंकि ऐसा विकल्पज्ञान तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे ही उत्पन्न हो सकता है, इसके लिए मानसप्रत्यक्ष माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। बड़ी और गरम जलेबी खाते समय जितनी इन्द्रियबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं उतने ही तदनन्तर-भावी अर्थको विषय करनेवाले मानस प्रत्यक्ष मानना होंगे; क्योंकि बादमें उतने ही प्रकारके विकल्पज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस तरह अनेक मानसप्रत्यक्ष माननेपर सन्तानभेद हो जानेके कारण 'जो मैं खाने वाला हूँ वही मैं सूँघ रहा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि समस्त रूपादिको विषय करनेवाला एक ही मानस-प्रत्यक्ष माना जाय; तब तो उसीसे रूपादिका परिज्ञान भी हो ही जायगा, फिर इन्द्रियबुद्धियाँ किसलिए स्वीकार की जायँ ? धर्मात्तरने मानसप्रत्यक्षको आगमप्रसिद्ध कहा है। अकलंकने उसकी भी समालोचना की है कि—जब वह मात्र आगमप्रसिद्ध ही है; तब उसके लक्षणका परीक्षण ही निरर्थक है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष खंडन—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तब तो स्वाप तथा मूर्च्छादि अवस्थाओंमें ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षको माननेमें क्या बाधा है ? सुषुप्ताद्यवस्थाओंमें अनुभवसिद्ध ज्ञानका निषेध तो किया ही नहीं जा सकता। यदि उक्त अवस्थाओंमें ज्ञानका अभाव हो तो उस समय योगियोंको चतुःसत्य-विषयक भावनाओंका भी विच्छेद मानना पड़ेगा।

बौद्धसम्मत विकल्पके लक्षणका निरास—बौद्ध 'अभिलाषवती प्रतीतिः कल्पना' अर्थात् जो ज्ञान शब्दसंसर्गके योग्य हो उस ज्ञानको कल्पना या विकल्पज्ञान कहते हैं। अकलंकदेवने उनके इस लक्षणका खंडन

३२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

करते हुए लिखा है कि—यदि शब्दके द्वारा कहे जाने लायक ज्ञानका नाम कल्पना है तथा बिना शब्दसंश्रयके कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता; तब शब्द तथा शब्दांशोंके स्मरणात्मक विकल्पके लिए तद्वाचक अन्य शब्दोंका प्रयोग मानना होगा, उन अन्य शब्दोंके स्मरणके लिए भी तद्वाचक अन्यशब्द स्वीकार करना होंगे, इस तरह दूसरे-दूसरे शब्दोंकी कल्पना करनेसे अनवस्था नामका दूषण होगा। अतः जब विकल्प-ज्ञान ही सिद्ध नहीं हो पाता; तब विकल्पज्ञानरूप साधकके अभावमें निर्विकल्पक भी असिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप प्रमाणद्वयके अभावमें सकल प्रमेयका भी साधक प्रमाण न होनेसे अभाव ही प्राप्त होगा। यदि शब्द तथा शब्दांशोंका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोगके बिना ही हो जाय; तब तो विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा। और जिस तरह शब्द तथा शब्दांशोंका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्दके प्रयोगके बिना ही हो जाता है। उसी तरह 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोगकी योग्यताके बिना ही हो जायेंगे, तथा चक्षुरादिबुद्धियाँ शब्दप्रयोगके बिना ही नीलपीतादि पदार्थोंका निश्चय करनेके कारण स्वतः व्यवसायात्मक सिद्ध हो जायेंगी। अतः विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण दूषित है। विकल्पका निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधीग्रहण या निश्चयात्मकत्व।

सांख्य—श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको प्रत्यक्षप्रमाण मानते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ तो तैमिरिक रोगीको होनेवाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य संशयादि ज्ञानोंमें भी प्रयोजक होती हैं, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नहीं हैं।

नैयायिक—इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसे भी अकलंकदेवने सर्वज्ञके ज्ञानमें अव्याप्त बताते हुए लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंको विषय करनेवाला सर्वज्ञका ज्ञान प्रतिनियतशक्तिवाली इन्द्रियोंसे तो उत्पन्न नहीं हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है। अतः सन्निकर्ष अव्याप्त है।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष—चार प्रकारका है—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय, ४. धारणा। प्रत्यक्ष-ज्ञानकी उत्पत्तिका साधारण क्रम यह है कि—सर्वप्रथम इन्द्रिय और पदार्थका योग्यदेशस्थितिरूप सम्बन्ध (सन्निकर्ष), ततः सामान्यावलोकन (निर्विकल्पक), ततः अवग्रह (सविकल्पक ज्ञान), ततः ईहा (विशेष जिज्ञासा), ततः अवाय (विशेष निश्चय), अन्तमें धारणा (संस्कार)।

सामान्यावलोकनसे धारणापर्यन्त ज्ञान चाहे एक ही मत्युपयोगरूप माने जायँ या पृथक्-पृथक् उपयोगरूप, दोनों अवस्थाओंमें अनुस्यूत आत्माकी सत्ता तो मानना ही होगी, अन्यथा 'जो मैं देखनेवाला हूँ, वही मैं अवग्रह तथा ईहादि ज्ञानवाला हूँ, वही मैं धारण करता हूँ' यह अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी दृष्टिसे अकलंकदेवने दर्शनकी अवग्रहरूप परिणति, अवग्रहकी ईहारूप, ईहाकी अवायरूप तथा अवायकी धारणारूप परिणति स्वीकार की है। अन्वित आत्मदृष्टिसे अभेद होनेपर भी इन ज्ञानोंमें पर्यायकी दृष्टिसे तो भेद है ही।

ईहा और धारणाकी ज्ञानात्मकता—वैशेषिक ईहाको प्रयत्न नामका पृथक् गुण तथा धारणाको भावनासंस्कार नामक पृथक् गुण मानते हैं। अकलंकदेवने इन्हें एक चैतन्यात्मक उपयोगकी अवस्था होनेके कारण ज्ञानात्मक ही कहा है, ज्ञानसे पृथक् स्वतंत्र गुणरूप नहीं माना है।

अवग्रहादिका परस्पर प्रमाण-फलभाव—ज्ञानके साधकतम अंशको प्रमाण तथा प्रमित्यंशको फल कहते हैं। प्रकृत ज्ञानोंमें अवग्रह, ईहाके प्रति साधकतम होनेसे प्रमाण है, ईहा प्रमाणरूप होनेसे उसका फल है।

इसी तरह ईहाकी प्रमाणतामें अवाय फल है तथा अवायको प्रमाण माननेपर धारणा फलरूप होती है। तात्पर्य यह कि—पूर्वपूर्वज्ञान साधकतम होनेसे प्रमाण हैं तथा उत्तरोत्तरज्ञान प्रमितिरूप होनेसे फलरूप हैं। प्रमाण-फलभावका ऐसा ही क्रम वैशेषिकादि अन्य दर्शनोंमें भी पाया जाता है।

मुख्य प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना होनेवाले, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थोंको विषय करनेवाले, अक्रम ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। वह सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका है। सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अमुक पदार्थोंको विषय करनेके कारण विकलप्रत्यक्ष है।

सर्वज्ञत्व विचार—प्राचीनकालमें भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षके ही साथ था। मुमुक्षुओंमें विचारणीय विषय तो यह था कि—मोक्षके मार्गका किसने साक्षात्कार किया है ? इसी मोक्षमार्गको धर्म शब्दसे कहते हैं। अतः 'धर्मका साक्षात्कार ही सकता है या नहीं ?' इस विषयमें विवाद था। एक पक्षका, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि—धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुको हम लोग प्रत्यक्षसे नहीं जान सकते, उसमें तो वेदका ही निर्बाध अधिकार है। धर्मकी परिभाषा भी 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' करके धर्ममें चोदना-वेदको ही प्रमाण कहा है। ऐसी धर्मज्ञतामें वेदको ही अन्तिम प्रमाण माननेके कारण उन्हें पुरुषमें अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञानका अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषोंमें राग-द्वेष-अज्ञान आदि दोषोंकी शंका होनेसे अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक वेदको पुरुषकृत न मानकर उसे अपौरुषेय स्वीकार किया। इस अपौरुषेयत्वको मान्यतासे ही पुरुषमें सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध हुआ। कुमारिल इस विषयमें स्पष्ट लिखते हैं कि—सर्वज्ञत्वके निषेधसे हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्वके निषेधसे है। धर्मके सिवाय यदि कोई पुरुष संसारके समस्त अर्थोंको जानना चाहता है, खुशीसे जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर धर्मका ज्ञान वेदके द्वारा ही होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे नहीं। इस तरह धर्मको वेदके द्वारा तथा धर्मातिरिक्त अन्य पदार्थोंको यथासंभव अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा जानकर कोई पुरुष यदि टोटलमें सर्वज्ञ बनता है, तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धोंका है। ये बुद्धको धर्म-चतुरार्यसत्यका साक्षात्कार मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्धने अपने निरास्रव शुद्धज्ञानके द्वारा दुःख, समुदय—दुःखके कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग—मोक्षोपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्मका प्रत्यक्षसे ही स्पष्ट साक्षात्कार किया है। अतः धर्मके विषयमें बुद्ध ही प्रमाण हैं। वे कर्षणा करके कषायज्वालासे झुलसे हुए संसारी जीवोंके उद्धारकी भावनासे उपदेश देते हैं। इस मतके समर्थक धर्मकीर्तिने लिखा है कि—हम 'संसारके समस्त पदार्थोंका कोई पुरुष साक्षात्कार करता है कि नहीं' इस निरर्थक बातके झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि—उसने इष्टतत्त्व-धर्मको जाना है कि नहीं ? मोक्षमार्गमें अनुपयोगी संसारके कीड़े-मकोड़ों आदिकी संख्याके परिज्ञानका भला मोक्षमार्गसे क्या सम्बन्ध है ? धर्मकीर्ति सर्वज्ञताका सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञताके समर्थकोंसे कहते हैं कि—भाई, मीमांसकोंके सामने सर्वज्ञता—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्तपदार्थोंका प्रत्यक्षसे ज्ञान—पर जोर क्यों देते हो ? असली विवाद तो धर्मज्ञतामें है कि धर्मके विषयमें धर्मके साक्षात्कर्त्ताको प्रमाण माना जाय या वेदको ? उस धर्ममार्गके साक्षात्कारके लिए धर्मकीर्तिने आत्मा-ज्ञानप्रवाहसे दोषोंका अत्यन्तोच्छेद माना और उसके साधन नैरात्म्यभावना आदि बताए हैं। तात्पर्य यह कि—जहाँ कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही अव्याहत अधिकार सिद्ध किया है; वहाँ धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्म-मोक्षमार्गका साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका जोरोंसे समर्थन किया है।

धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्तने सुगतको धर्मज्ञके साथ ही साथ सर्वज्ञत्रिकालवर्ती यावत् पदार्थोंका ज्ञातो भी सिद्ध किया है। और लिखा है कि—सुगतकी तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्थामें रागादिविनिर्मुक्तिकी तरह सर्वज्ञताके लिए भी यत्न करें। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहें तो थोड़ेसे प्रयत्नसे तो सर्वज्ञ बन सकते हैं। शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता साधनके साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और इस सर्वज्ञताको वे शक्तिरूपसे सभी वीतरागोंमें मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहें तब जिस किसी भी वस्तुको अनायास ही जान सकते हैं।

योग तथा वैशेषिकके सिद्धान्तमें यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियोंकी तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागोंके लिए अवश्य प्राप्तव्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन तार्किकोंने प्रारम्भसे ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयोंके प्रत्यक्षदर्शन रूप अर्थमें सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्कयुगके पहिले 'जे एगं जाणइ से मव्वं जाणइ'—जो एक आत्माको जानता है वह सर्व पदार्थोंको जानता है इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञताके मुख्य साधक नहीं हैं, पाए जाते हैं; पर तर्कयुगमें इनका जैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। समन्तभद्र आदि आचार्योंने सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतुसे सिद्ध किया है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है, जब दोष और आवरणका समूल क्षय हो जायगा तब ज्ञान अनायास ही अपने पूर्णरूपमें प्रकट होकर सम्पूर्ण अर्थका साक्षात्कार करेगा। बौद्धोंकी तरह किसी भी जैनतर्कग्रन्थमें धर्मज्ञता और सर्वज्ञताका विभाजनकर उनमें गौण-मुख्य-भाव नहीं बताया गया है। सभी जैनतार्किकोंने एकस्वरसे त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंके पूर्णपरिज्ञान अर्थमें सर्वज्ञताका समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्णसर्वज्ञताके गर्भमें ही निहित मान ली गई है।

अकलंकदेवने सर्वज्ञता तथा मुख्यप्रत्यक्षके समर्थनके साथ ही साथ धर्मकीर्तिके उन विचारोंका खूब समालोचन किया है जिनमें बुद्धको करुणावान्, शास्ता, तापि, तथा चातुरार्यसत्यका उपदेष्टा बताया है। साथ ही सर्वज्ञभावके विशिष्ट समर्थक कुमारिलकी युक्तियोंका खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि—आत्मामें सर्वपदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें मल-ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता पर जब चैतन्यके प्रतिबन्धक कर्मका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त अर्थोंको जाननेमें क्या बाधा है? यदि अतीन्द्रियपदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्यद्दशाओंका जो अनागत होनेसे अतीन्द्रिय है, उपदेश कैसे होगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश यथार्थ देखा जाता है, अतः यह मानना ही चाहिए कि उसका यथार्थ उपदेश साक्षाद्द्रष्टा माने बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भाविराज्यलाभादिका यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी भाविपदार्थोंमें संवादक तथा स्पष्ट है। जैसे प्रश्न या ईक्षणिकादि-विद्या अतीन्द्रिय पदार्थोंका स्पष्ट भान करा देती है उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान स्पष्ट भासक होता है। इस तरह साधक प्रमाणोंको बताकर उन्होंने जो एक खास हेतुका प्रयोग किया है, वह है—'सुनिश्चितासम्भव-द्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्तामें कोई साधक प्रमाण नहीं मिले। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुखका साधक प्रमाण यही है कि—मेरे सुखी होनेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञकी सत्तामें कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है, अतः उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहिए। इस हेतुके समर्थनार्थ उन्होंने विरोधियोंके द्वारा कल्पित बाधकोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

प्र०—'अहन्त सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है, जैसे कोई भी गलीमें घूमनेवाला साधारण मनुष्य' यह अनुमान बाधक है।

उ०—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वका कोई विरोध नहीं है, वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। ज्ञानकी बढ़तीमें वचनोंका ह्रास नहीं होता।

प्र०—वक्तृत्व विवक्षासे सम्बन्ध रखता है, अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञमें वचनोंकी संभावना ही कैसे है? शब्दोच्चारणकी इच्छा तो मोहकी पर्याय है।

उ०—विवक्षाके साथ वक्तृत्वका कोई अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्रविवक्षा रखते हैं, पर शास्त्रका व्याख्यान नहीं कर सकते। सुषुप्तादि अस्थायीमें वचन देखे जाते हैं पर विवक्षा नहीं है। अतः वचनप्रवृत्तिमें चैतन्य तथा इन्द्रियोंकी पटुता कारण है। लेकिन उनका सर्वज्ञताके साथ कोई विरोध नहीं है। अथवा, वचन विवक्षाहेतुक मान भी लिए जायें पर सत्य और हितकारक वचनकी प्रवृत्ति करानेवाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है? इसी तरह निर्दोष वीतराग पुरुषत्व सर्वज्ञताके साथ कोई विरोध नहीं रखता। अतः इन व्यभिचारी हेतुओंसे साध्यसिद्धि नहीं हो सकती; अन्यथा 'जैमिनिको यथार्थ वेदज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है एवं पुरुष है' इस अनुमानसे जैमिनिकी वेदार्थज्ञताका भी निषेध भलीभाँति किया जा सकता है।

प्र०—आजकल हमें किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होनेसे उसका अभाव ही मानना चाहिए।

उ०—पूर्वोक्त अनुमानोंसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है, अतः अनुपलम्भ तो नहीं कहा जा सकता। यह अनुपलम्भ आपको है, या संसारके समस्त जीवोंको? आपको तो इस समय हमारे चित्तमें आनेवाले विचारोंकी भी अनुपलब्धि है पर इससे उनका अभाव तो सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः स्वोपलम्भ अर्नैकान्तिक है। 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात तो सबके ज्ञानोंका ज्ञान होनेपर ही सिद्ध हो सकती है। और यदि किसी पुरुषको समस्त प्राणियोंके ज्ञानका ज्ञान हो सके; तब तो वही पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा। यदि समस्तजीवोंके ज्ञानका ज्ञान नहीं हो सके; तब तो 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात असिद्ध ही रह जायगी।

प्र०—'सर्वज्ञता आगमोक्तपदार्थोंका यथार्थज्ञान एवं अम्याससे होगी तथा आगम सर्वज्ञके द्वारा कहा जायगा' इस तरह सर्वज्ञ और आगम दोनों ही अन्योन्याश्रित—एक-दूसरेके आश्रित होनेसे असिद्ध हैं।

उ०—सर्वज्ञ आगमका कारक है। प्रकृत सर्वज्ञका ज्ञान पूर्वसर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमके अर्थके आचरणसे उत्पन्न होता है, पूर्व आगम तत्पूर्वसर्वज्ञके द्वारा कहा गया है। इस तरह बीजांकुरकी तरह सर्वज्ञ और आगमकी परम्परा अनादि मानी जाती है। अनादिपरम्परामें इतरेतराश्रय दोषका विचार अव्यवहार्य है।

प्र०—जब आजकल पुरुष प्रायः रागादि दोषसे दूषित तथा अज्ञानी देखे जाते हैं, तब अतीतकालमें भी किसी अतीन्द्रियार्थद्रष्टाकी संभावना नहीं की जा सकती और न भविष्यत्कालमें ही? क्योंकि पुरुषजातिकी शक्तियाँ तीनों कालोंमें प्रायः समान ही रहती हैं; वे अपनी अमुक मर्यादा नहीं लाँघ सकतीं।

उ०—यदि पुरुषातिशयको हम नहीं जान सकते तो इससे उसका अभाव नहीं होता। अन्यथा आजकल कोई वेदका पूर्णज्ञ नहीं देखा जाता अतः अतीतकालमें जैमिनिको भी उसका यथार्थ ज्ञान नहीं था यह कहना चाहिये। बुद्धिमें तारतम्य होनेसे उसके प्रकर्षकी संभावना तो है ही। जैसे मलिन सुवर्ण अग्निके तापसे क्रमशः पूर्ण निर्मल हो जाता है, उसी तरह सम्यग्दर्शनादिके अम्याससे आत्मा भी पूर्णरूपसे निर्मल हो सकता है।

३६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

प्र०—जब सर्वज्ञ रागी आत्माके राग तथा दुःखीके दुःखका साक्षात्कार करता है तब तो वह स्वयं रागी तथा दुःखी हो जायगा ।

उ०—दुःख या राग को जाननेमात्रसे कोई दुःखी या रागी नहीं होता । राग तो आत्माका स्वयं तद्रूपसे परिणमन करनेपर होता है । क्या कोई श्रोत्रियब्राह्मण मंदिराके रसका ज्ञान करनेमात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है ? रागके कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञसे अत्यन्त उच्छिन्न हो गए हैं, अतः वे राग या दुःखको जाननेमात्रसे रागी या दुःखी नहीं हो सकते ।

प्र०—जब सर्वज्ञके साधक और बाधक दोनों प्रकारके प्रमाण नहीं मिलते, तो उसकी सत्ता संदिग्ध ही कहना चाहिए ।

उ०—साधक प्रमाण पहिले बता आए हैं तथा बाधकोंका परिहार भी किया जा चुका है तब संदेह क्यों हो ? सर्वज्ञके अभावका साधन तो सर्वज्ञ हुए बिना किया ही नहीं जा सकता । जब हम त्रिकाल-त्रिलोक-वर्ती यावत्पुरुषोंका असर्वज्ञरूपमें दर्शन कर सकेंगे तभी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है । पर ऐसी असर्वज्ञता सिद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वयं अनायास ही सर्वज्ञ बन जायगा ।

धर्मकीर्तिने बुद्धको कर्णावान् तथा हेयोपादेय तत्त्वका उपदेष्टा कहा है । अकलंक कहते हैं कि—जब आप समस्तधर्मोंके आधारभूत आत्माको ही नहीं मानते तब किसपर कर्णा की जायगी तथा कौन कर्णा करेगा ? कौन उसका अनुष्ठान करेगा ? ज्ञानक्षण तो परस्पर भिन्न हैं, अतः भावना किसी अन्यज्ञानक्षणको होगी तो मुक्ति किसी दूसरे ज्ञानक्षणको । दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य तो तब ठीक हो सकते हैं जब दुःखादिके अनुभव करनेवाले आत्माको स्वीकार किया जाय । इस तरह जीव जिसे संसार होता है तथा जो मुक्त होता है, अजीव जिसके सम्बन्धसे दुःख होता है, इन दो आधारभूत तत्त्वोंको माने बिना तत्त्वसंख्याकी पूर्णता नहीं हो सकती । दुःखको जैन लोग बन्ध तथा समुदयको आस्रव शब्दसे कहते हैं । निरोधको मोक्ष तथा मार्गको संवर और निर्जरा शब्दसे कहते हैं । अतः चार आर्यसत्यके साथ जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वोंको मानना ही चाहिये । जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वोंके अनादिकालीन सम्बन्धसे ही दुःख आदिकी सृष्टि होती है । बुद्धने हिंसाका भी उपदेश दिया है अतः मालूम होता है कि वे यथार्थदर्शी नहीं थे । इत्यादि । सद् आत्माको हेय कहना, निरोधको जो असद्रूप है उपादेय कहना, उसके कारणोंका उपदेश देना तथा असत्की प्राप्तिके लिए यत्न करना ये सब बातें उनकी असर्वज्ञताका दिग्दर्शन करानेके लिए पर्याप्त हैं । अकलंकके द्वारा बुद्धके प्रति किए गए अकर्णावत्त्व आदि आक्षेपोंके लिए उस समयकी साम्प्रदायिक परिस्थिति ही जवाबदेह है, क्योंकि कुमारिल और धर्मकीर्ति आदिने जैनोंके ऊपर भी ऐसे ही कल्पित आक्षेप किए हैं ।

परोक्ष—अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थसूत्रकारके द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानोंमें मतिज्ञान मति स्मृत्यादि ज्ञानोंको नामयोजनाके पहिले सांख्यव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहकर नाम योजना होनेपर उन्हीं ज्ञानोंको श्रुतव्यपदेश दिया है और श्रुतको अस्पष्ट होनेसे परोक्ष कहा है । अर्थात् परोक्षज्ञानके स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध तथा श्रुत-आगमये पाँच भेद हुए । अकलंकदेवने राजवार्तिकमें अनुमान आदि ज्ञानोंको स्वप्रतिपत्तिकालमें (नामयो-जनासे पहिले) अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत कहा है । लघीयस्त्रयमें मति (इन्द्रियानिन्द्रियज-प्रत्यक्ष) को नामयोजनाके पहिले मतिज्ञान एवं सांख्यव्यवहारिकप्रत्यक्ष तथा शब्दयोजनाके बाद उसे ही श्रुत कहना उनके सम्बन्ध करनेके उत्कट यत्नकी ओर ध्यान खींचता है, और इससे यह भी मालूम होता है कि लघीय-स्त्रय बनाते समय वे अपनी योजनाको दृढ़ नहीं कर सके थे; क्योंकि उनने लघीयस्त्रयमें मति, स्मृति आदिको

अवस्थाविशेषमें मतिज्ञान लिखनेपर भी न्यायविनिश्चयमें स्मरणादि ज्ञानोंके ऐकान्तिक श्रुतत्व-परोक्षत्वका-विधान किया है ।

स्मृति—स्मरणको कोई वादी गृहीतग्राही होनेसे तथा कोई अर्थसे उत्पन्न न होनेके कारण अप्रमाण कहते आए हैं । पर अकलंकदेव कहते हैं कि—यद्यपि स्मरण गृहीतग्राही है फिर भी अविस्वादी होनेसे प्रमाण ही होना चाहिये । वह अविस्वादी प्रत्यभिज्ञानका जनक भी है । स्मृति समारोपका व्यवच्छेद करनेवाली है, अतः उसे प्रमाण माननेमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए ।

प्रत्यभिज्ञान—दर्शन और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले, एकत्व सादृश्य वैसदृश्य प्रतियोगि तथा दूर-त्वादिरूपसे संकलन करनेवाले ज्ञानका नाम प्रत्यभिज्ञान है । प्रत्यभिज्ञान यद्यपि स्मरण और प्रत्यक्षसे उत्पन्न होता है फिर भी इन दोनोंके द्वारा अगृहीत पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एकत्वको विषय करनेके कारण प्रमाण है । अविस्वादित्व भी प्रत्यभिज्ञानमें पाया जाता है जो प्रमाणताका खास प्रयोजक है ।

तर्क—प्रत्यक्ष—साध्यसाधनसद्भावज्ञान और अनुपलम्भ—साध्याभाव-साधनाभावज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला सर्वोपसंहाररूपसे साध्यसाधनके सम्बन्धको ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है । संक्षेपमें अविनाभावरूप व्याप्तिको ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है । जितना भी धूम है वह कालत्रय तथा त्रिलोकमें अग्निसे ही उत्पन्न होता है, अग्निके अभावमें कहीं भी कभी भी नहीं हो सकता ऐसा सर्वोपसंहारी अविनाभाव प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे गृहीत नहीं होता । अतः अगृहीतग्राही तथा अविस्वादक तर्कको प्रमाणभूत मानना ही चाहिये । सन्निहितपदार्थको विषय करनेवाला अविचारक प्रत्यक्ष इतने विस्तृत क्षेत्रवाले अविनाभावको नहीं जान सकता । भले ही वह एक अमुकस्थानमें साध्यसाधनके सम्बन्धको जान सके, पर अविचारक होनेसे उसकी साध्यसाधनसम्बन्धविषयक विचारमें सामर्थ्य ही नहीं है । अनुमान तो व्याप्तिग्रहणके बाद ही उत्पन्न होता है, अतः प्रकृत अनुमान स्वयं अपनी व्याप्तिके ग्रहण करनेका प्रयत्न अन्योन्याश्रयदोष आनेके कारण नहीं कर सकता; क्योंकि जब तक व्याप्ति गृहीत न हो जाय तब तक अनुमानोत्पत्ति नहीं हो सकती और जब तक अनुमान उत्पन्न न हो जाय तब तक व्याप्तिका ग्रहण असंभव है । प्रकृत अनुमानकी व्याप्ति किसी दूसरे अनुमानके द्वारा ग्रहण करनेपर तो अनवस्था दूषण स्पष्ट ही है । इस तरह तर्कको स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही उचित है ।

जिनमें अविनाभाव नहीं है उनमें अविनाभावकी सिद्धि करनेवाला ज्ञान कुतर्क है । जैसे विवक्षासे वचनका अविनाभाव बतलाना; क्योंकि विवक्षाके अभावमें भी सुषुप्तादि अवस्थामें वचनप्रयोग देखा जाता है । शास्त्रविवक्षा रहनेपर भी मन्दबुद्धियोंके शास्त्रव्याख्यानरूप वचन नहीं देखे जाते ।

अनुमान—अविनाभावी साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं । नैयायिक अनुमितिके कारणको अनुमान कहते हैं । उनके मतसे परामर्शज्ञान अनुमानरूप होता है । 'धूम अग्निसे व्याप्त है तथा वह धूम पर्वतमें है' इस एकज्ञानको परामर्शज्ञान कहते हैं । बौद्ध त्रिरूपर्लिगसे अनुमेयके ज्ञानको अनुमान मानते हैं ।

साधनका स्वरूप तथा अविनाभावग्रहणप्रकार—साध्यके साथ जिसकी अन्यथानुपपत्ति-अविनाभाव निश्चित हो उसे साधन कहते हैं । अविनाभाव (बिना-साध्यके अभावमें अनहीं भाव-होना) साध्यके अभावमें साधनके न होनेको कहते हैं । यह अविनाभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे उत्पन्न होनेवाले तर्क नामके प्रमाणके द्वारा गृहीत होता है । बौद्ध पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपवाले साधनको सत्साधन कहते हैं । वे सामान्यसे अविनाभावको ही साधनका स्वरूप मानते हैं । त्रिरूप तो अविनाभावके परिचायकमात्र है । वे तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धोंसे अविनाभावका ग्रहण मानते हैं । उनके मतसे हेतुके तीन भेद हैं—

३८ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

१. स्वभावहेतु, २. कार्यहेतु, ३. अनुपलब्धिहेतु । स्वभाव और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु निषेधसाधक । स्वभावहेतुमें तादात्म्यसम्बन्ध, कार्यहेतुमें तदुत्पत्तिसम्बन्ध तथा अनुपलब्धिहेतुमें यथासंभव दोनों सम्बन्ध अविनाभावके प्रयोजक होते हैं ।

अकलंकदेव इसका निरास करते हैं कि—जहाँ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धसे हेतुमें गमकत्व देखा जाता है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वह अविनाभाव तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिप्रयुक्त हो, पर बहुतेसे ऐसे भी हेतु हैं जिनका साध्यके साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है फिर भी अविनाभावके कारण वे नियत साध्यका ज्ञान कराते हैं । जैसे कृतिकोदयसे भविष्यत् शकटोदयका अनुमान । यहाँ कृतिकोदयका शकटोदयके साथ न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही । हेतुओंके तीन भेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धिके सिवाय कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु भी स्वनियत-साध्यका अनुमान कराते हैं ।

कारणहेतु—वृक्षसे छायाका ज्ञान, चन्द्रमासे जलमें पड़नेवाले उसीके प्रतिबिम्बका अबाधित अनुमान होता है । यहाँ वृक्ष या चन्द्र न तो छाया या जलप्रतिबिम्बित चन्द्रके कार्य हैं और न स्वभाव ही । हाँ, निमित्तकारण अवश्य हैं । अतः कारणलिङ्गसे भी कार्यका अनुमान मानना चाहिये । जिस कारणकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध हो तथा जिसमें अन्य कारणोंकी विकलता न हो वह कारण अवश्य ही कार्योपादक होता है ।

पूर्वचरहेतु—कृतिका नक्षत्रका उदय देखकर एक मुहूर्तके बाद रोहिणी नक्षत्रके उदयका अनुमान देखा जाता है । अब विचार कीजिये कि—कृतिकाका उदय जिससे रोहिणीके उदयका अविस्वादी अनुमान होता है, किस हेतुमें शामिल किया जाय ? कृतिकोदय तथा रोहिण्युदयमें कालभेद होनेसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः स्वभावहेतुमें अन्तर्भाव नहीं होगा । तथा एक दूसरेके प्रति कार्यकारणभाव नहीं है अतः कार्य या कारणहेतुमें उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता । अतः पूर्वचरहेतु अतिरिक्त ही मानना चाहिये । इसी तरह आज सूर्योदय देखकर कल सूर्योदय होगा, चन्द्रग्रहण होगा इत्यादि भविष्यद्विषयोंका अनुमान अमुक अविनाभावी पूर्वचर हेतुओंसे होता है ।

उत्तरचरहेतु—कृतिकाका उदय देखकर एक मुहूर्त पहिले भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका यह अनुमान होता है । यह उत्तरचर हेतु पूर्वोक्त किसी हेतुमें अन्तर्भूत नहीं होता ।

सहचरहेतु—चन्द्रमाके इस भागको देखकर उसके उस भागका अनुमान, तराजूके एक पलड़ेको नीचा देखकर दूसरे पलड़ेके ऊँचे होनेका अनुमान, रस चखकर रूपका अनुमान तथा सास्ना देखकर गौका अनुमान देखा जाता है । यहाँ रसादि सहचर हेतु हैं; क्योंकि इनका अपने साध्योंके साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति आदि कोई सम्बन्ध नहीं होनेसे ये कार्य आदि हेतुओंमें अन्तर्भूत नहीं हैं । हाँ, अविनाभावमात्र होनेसे ये हेतु गमक होते हैं ।

अनुपलब्धि—बौद्ध दृश्यानुपलब्धिसे ही अभावकी सिद्धि मानते हैं । दृश्यसे उनका तात्पर्य ऐसी वस्तुसे है कि—जो वस्तु सूक्ष्म, अन्तरित या दूरवर्ती न हो तथा जो प्रत्यक्षका विषय हो सकती हो । ऐसी वस्तु उपलब्धिके समस्त कारण मिलनेपर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिये । सूक्ष्मादि पदार्थोंमें हम लोगोंके प्रत्यक्ष आदि की निवृत्ति होनेपर भी उनका अभाव तो नहीं होता । प्रमाणसे प्रमेयका सद्भाव जाना जा सकता है पर प्रमाणकी अप्रवृत्तिसे प्रमेयका अभाव नहीं माना जा सकता । अतः विप्रकृष्ट पदार्थोंमें अनुपलब्धि संशयहेतु होनेसे अभावकी साधिका नहीं हो सकती ।

अकलंकदेव इसका निरास करते हुए लिखते हैं कि—दृश्यत्वका अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व ही न होना

चाहिये किन्तु प्रमाणविषयत्व करना चाहिये । इससे यह तात्पर्य होगा कि—जो वस्तु जिस प्रमाणका विषय होकर यदि उसी प्रमाणसे उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध होगा । देखो—मृत शरीरमें स्वभावसे अतीन्द्रिय परचैतन्यका अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं । यहाँ परचैतन्यमें प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है; क्योंकि परचैतन्य हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं होता । वचन उष्णताविशेष या आकारविशेष आदिके द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, अतः उन्हीं वचनादिके अभावसे चैतन्यका अभाव सिद्ध होना चाहिये । अदृश्यानुपलब्धि यदि संशय हेतु मानी जाय तो अपनी अदृश्य आत्माकी सत्ता भी कैसे सिद्ध हो सकेगी ? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमानके विषय हैं; यदि हम उनकी अनुमानसे उपलब्धि न कर सकें तब उनका अभाव सिद्ध कर सकते हैं । हाँ, जिन पिशाचादि पदार्थोंको हम किसी भी प्रमाणसे नहीं जान सकते उनका अभाव हम अनुपलब्धिसे नहीं कर सकेंगे । तात्पर्य यह कि—जिस वस्तुको हम जिन-जिन प्रमाणोंसे जानते हैं उस वस्तुका उन-उन प्रमाणोंकी निवृत्तिसे अभाव सिद्ध होगा ।

अकलंककृत हेतुके भेद—अकलंकदेवने सद्भाव साधक छः उपलब्धियोंका वर्णन किया है—

१—स्वभावोपलब्धि—आत्मा है, उपलब्ध होनेसे ।

२—स्वभावकार्योपलब्धि—आत्मा थी, स्मरण होनेसे ।

३—स्वभावकारणोपलब्धि—आत्मा होगी, सत् होनेसे ।

४—सहचरोपलब्धि—आत्मा है, स्पर्शविशेष (शरीरमें उष्णता विशेष) पाया जानेसे ।

५—सहचरकार्योपलब्धि—कायव्यापार हो रहा है, वचनप्रवृत्ति होनेसे ।

६—सहचरकारणोपलब्धि—आत्मा सप्रदेशी है, सावयवशरीरके प्रमाण होनेसे ।

असद्व्यवहारसाधनके लिए छः अनुपलब्धियाँ बतायी हैं—

१—स्वभावानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होनेसे ।

२—कार्यानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कार्य नहीं पाया जाता ।

३—कारणानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कारण नहीं पाया जाता ।

४—स्वभावसहचरानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, रूपविशेष (शरीरमें आकारविशेष) नहीं पाया जाता ।
५—सहचरकार्यानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, व्यापार, आकारविशेष तथा वचनविशेषकी अनुपलब्धि होनेसे ।

६—सहचरकारणानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आहार ग्रहण करना नहीं देखा जाता । सजीव शरीर ही स्वयं आहार ग्रहण करता है ।

सद्व्यवहारके निषेधके लिए ३ उपलब्धियाँ बतायीं हैं—

१—स्वभावविरुद्धोपलब्धि—पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होनेसे ।

२—कार्यविरुद्धोपलब्धि—लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, विसंवादी होनेसे । (?)

३—कारणविरुद्धोपलब्धि—इस व्यक्तिको परीक्षाका फल प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसने अभावैकान्तका ग्रहण किया है ।

इस तरह सद्भावसाधक ९ उपलब्धियाँ तथा अभावसाधक छः अनुपलब्धियोंको कण्ठोक्त कहकर इनके और अन्य अनुपलब्धियोंके भेदप्रभेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव किया है । साथ ही यह भी बताया है कि—धर्मकीर्तिके कथनानुसार अनुपलब्धियाँ केवल अभाव साधक ही नहीं हैं, किन्तु भावसाधक भी होती हैं । इसी सकेतके अनुसार माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द तथा वादिदेवसूरिने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनोंको उभयसाधक मानकर उनके अनेकों भेदप्रभेद किये हैं ।

त्रैरूप्य निरास—बौद्ध हेतुके तीन रूप मानता है। प्रत्येक सत्य हेतुमें निम्न त्रिरूपता अवश्य ही पाई जानी चाहिए, अन्यथा वह सद्धेतु नहीं हो सकता। १. पक्षधर्मत्व—हेतुका पक्षमें रहना। २. सपक्ष-सत्त्व—हेतुका समस्त सपक्षोंमें या कुछ सपक्षोंमें रहना। ३. विपक्षासत्त्व—हेतुका विपक्षमें बिलकुल नहीं पाया जाना। अकलंकदेव इनमेंसे तीसरे विपक्षासत्त्व रूपको ही सद्धेतुत्वका नियामक मानते हैं। उनकी दृष्टिसे हेतुका पक्षमें रहना तथा सपक्षसत्त्व कोई आवश्यक नहीं है। वे लिखते हैं कि—‘शकटोदय होगा, कृत्तिकोदय होनेसे’ ‘भरणीका उदय हो चुका, कृत्तिकाका उदय होनेसे’ इन अनुमानोंमें कृत्तिकोदय हेतु पक्षभूत शकट तथा भरणिमें नहीं पाया जाता। इसी तरह ‘अद्वैतवादीके प्रमाण हैं, अन्यथा इष्टसाधन और अनिष्ट-दूषण नहीं हो सकेगा।’ इस स्थलमें जब इस अनुमानके पहिले अद्वैतवादियोंके यहाँ प्रमाण नामक धर्मीकी सत्ता ही सिद्ध नहीं है तब पक्षधर्मत्व कैसे बन सकता है? पर उक्त हेतुओंकी स्वसाध्यके साथ अन्यथाऽनुपपत्ति (अन्यथा—साध्यके अभावमें-विपक्षमें अनुपपत्ति-असत्त्व) देखी जाती है, अतः वे सद्धेतु हैं।

धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमिने शकटोदयादिका अनुमान करानेवाले कृत्तिकोदयादि वैयधिकरण हेतुओंमें काल या आकाशको धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटानेकी युक्तिका उपयोग किया है। अकलंकदेवने इसका भी निराकरण करते हुए कहा है कि—यदि काल आदिको धर्मी बनाकर कृत्तिकोदयमें पक्षधर्मत्व घटाया जायगा तब तो पृथिवीरूप पक्षकी अपेक्षासे महानसगतधूमहेतुसे समुद्रमें भी अग्नि सिद्ध करनेमें हेतु अपक्षधर्म नहीं होगा।

सपक्षसत्त्वको अनावश्यक बताते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—पक्षमें साध्य और साधनकी व्याप्ति-रूप अन्तर्व्याप्तिके रहनेपर ही हेतु सर्वत्र गमक होता है। पक्षसे बाहिर—सपक्षमें व्याप्ति ग्रहण करने रूप बहिर्व्याप्तिके कोई लाभ नहीं। क्योंकि अन्तर्व्याप्तिके असिद्ध रहनेपर बहिर्व्याप्ति तो असाधक ही है। जहाँ अन्तर्व्याप्ति गृहीत है वहाँ बहिर्व्याप्तिके ग्रहण करनेपर भी कुछ खास लाभ नहीं है। अतः बहिर्व्याप्तिका प्रयोजक सपक्षसत्त्वरूप भी अनावश्यक है। इस तरह अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका व्यावर्तक रूप मानते हुए अकलंकदेवने स्पष्ट लिखा है कि—जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूपता माननेसे क्या लाभ? जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रिरूपता मानकर भी गमकता नहीं आ सकती। ‘अन्यथानुपपन्नत्व’ यह कारिका तत्त्व-संग्रहकारके उल्लेखानुसार पात्रस्वामिकी मालूम होती है। यही कारिका अकलंकने न्यायविनिश्चयके त्रिलक्षण-खण्डनप्रकरणमें लिखी है।

हेत्वाभास—नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते हैं, अतः वे एक-एक रूपके अभावमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास मानते हैं। बौद्धने हेतुको त्रिरूप माना है, अतः उनके मतसे पक्षधर्मत्वके अभावसे असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्त्वके अभावसे विरुद्ध हेत्वाभास तथा विपक्षासत्त्वके अभावसे अनैकान्तिक हेत्वाभास, इस तरह तीन हेत्वाभास होते हैं। अकलंकदेवने जब अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावतः इनके मतसे अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें एक ही हेत्वाभास माना जायगा, जिसे उन्होंने स्वयं लिखा है कि—वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास है। अन्यथानुपपत्तिका अभाव कई प्रकारसे होता है अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१-असिद्ध—सर्वथात्ययात्—सर्वथा पक्षमें न पाया जानेवाला, अथवा सर्वथा जिसका साध्यसे अविनाभाव न हो। जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होनेसे।

२-विरुद्ध—अन्यथाभावात्—साध्याभावमें पाया जानेवाला, जैसे सब क्षणिक हैं, सत् होनेसे। सत्त्व-हेतु सर्वथाक्षणिकत्वके विपक्षभूत कथञ्चित्क्षणिकत्वमें पाया जाता है।

३-अनैकान्तिक—विपक्षमें भी पाया जानेवाला । जैसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त वस्तु-त्वादिहेतु । यह निश्चितानैकान्तिक, सन्दिग्धनैकान्तिक आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है ।

४-अकिञ्चित्कर—सिद्ध साध्यमें प्रयुक्त हेतु । अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं उन सबको भी अकिञ्चित्कर समझना चाहिए ।

दिग्नागाचार्यने विरुद्धाव्यभिचारी नामका भी एक हेत्वाभास माना है । परस्पर विरोधी दो हेतुओंका एक धर्मीमें प्रयोग होनेपर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है । यह संशयहेतु होनेसे हेत्वाभास है । धर्मकीतिने इसे हेत्वाभास नहीं माना है । वे लिखते हैं कि—प्रमाणसिद्धत्रैरूप्यवाले हेतुके प्रयोग होनेपर विरोधी हेतुको अवसर ही नहीं मिल सकता । अतः इसकी आगमाश्रितहेतुके विषयमें प्रवृत्ति मानकर आचार्यके वचनकी संगति लगा लेनी चाहिए; क्योंकि शास्त्र अतीन्द्रियार्थविषयमें प्रवृत्ति करता है । शास्त्रकार एक ही वस्तुको परस्पर विरोधी रूपसे कहते हैं, अतः आगमाश्रित हेतुओंमें ही यह संभव हो सकता है । अकलंकदेवने इस हेत्वाभासका विरुद्धहेत्वाभासमें अन्तर्भाव किया है । जो हेतु विरुद्ध का अव्यभिचारी-विपक्षमें भी रहनेवाला होगा वह विरुद्ध हेत्वाभासकी ही सीमामें आयगा ।

अर्चटकृत हेतुबिन्दुविवरणमें एक षड्लक्षण हेतु माननेवाले मतका कथन है । पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्व ये छह लक्षण हैं । इनमें ज्ञातत्व नामके रूपका निर्देश होनेसे इस वादीके मतसे 'अज्ञात' नामका भी हेत्वाभास फलित होता है । अकलंकदेवने इस 'अज्ञात' हेत्वाभासका अकिञ्चित्कर हेत्वाभासमें अन्तर्भाव किया है । नैयायिकोक्त पाँच हेत्वाभासोंमें कालात्ययापदिष्टका अकिञ्चित्कर हेत्वाभासमें, तथा प्रकरणसमका जो दिग्नागके विरुद्धाव्यभिचारी जैसा है, विरुद्धहेत्वाभासमें अन्तर्भाव समझना चाहिए । इस तरह अकलंकदेवने सामान्य रूपसे एक हेत्वाभास कहकर भी विशेषरूपसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार हेत्वाभासोंका कथन किया है ।

अकलंकदेवका अभिप्राय अकिञ्चित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुद्ध नहीं मालूम होता । क्योंकि वे लिखते हैं कि—सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है । वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका है । ये विरुद्धादि अकिञ्चित्करके विस्तार हैं । फिर लिखते हैं कि—अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण हैं उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए । इससे मालूम होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे । इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास होनेपर उनका भार नहीं था । यही कारण है कि आ० माणिक्यनन्दिने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके लक्षण और भेद कर चुकनेपर भी लिखा है कि—इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका विचार हेत्वाभासके लक्षणकालमें ही करना चाहिए । शास्त्रार्थके समय तो इसका कार्य पक्षदोषसे ही किया जा सकता है । आचार्य विद्यानन्दने भी सामान्यसे एक हेत्वाभास कहकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिकको उसीका रूपान्तर माना है । उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके ऊपर भार नहीं दिया । वादिदेवसूरि आदि उतरकालीन आचार्योंने असिद्धादि तीन ही हेत्वाभास गिनाए हैं ।

साध्य—आ० दिग्नागने पक्षके लक्षणमें ईप्सित तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध ये दो विशेषण दिए हैं । धर्मकीर्ति ईप्सितकी जगह इष्ट तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्धके स्थानमें प्रत्यक्षाद्यनिराकृत शब्दका प्रयोग करते हैं । अकलंकदेवने अपने साध्यके लक्षणमें शक्य (अबाधित) अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध इन तीन विशेषणोंका प्रयोग किया है । असिद्ध विशेषण तो 'साध्य' शब्दके अर्थसे ही फलित होता है । साध्यका अर्थ है—सिद्ध करने योग्य, अर्थात् असिद्ध । शक्य और अभिप्रेत विशेषण बौद्धाचार्योंके द्वारा किए गए साध्यके लक्षणसे आए हैं ।

४२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

साध्यका यह लक्षण निर्विवादरूपसे माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। सिद्ध, अनिष्ट तथा बाधितको साध्याभास कहा है।

दृष्टान्त—जहाँ साध्य और साधनके सम्बन्धका ज्ञान होता है उस प्रदेशका नाम दृष्टान्त है। साध्य-विकल तथा साधनविकलादिक दृष्टान्ताभास हैं। इस तरह दृष्टान्त और दृष्टान्ताभासका लक्षण करनेपर भी अकलंकदेवने दृष्टान्तको अनुमानका अवयव स्वीकार नहीं किया। उनने लिखा है कि—सभी अनुमानोंमें दृष्टान्त होना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं है, दृष्टान्तके बिना भी साध्यकी सिद्धि देखी जाती है, जैसे बौद्धके मतसे समस्त पदार्थोंको क्षणिकत्व सिद्ध करनेमें सत्त्व हेतुके प्रयोगमें कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः दृष्टान्त अनुमानका नियत अवयव नहीं है। इसीलिये उत्तरकालीन कुमारनन्दि आदि आचार्योंने प्रतिज्ञा और हेतु इन दोको ही अनुमानका अवयव माना है। हाँ, मन्दबुद्धि शिष्योंकी दृष्टिसे दृष्टान्त, उपनय तथा निगमनादि भी उपयोगी हो सकते हैं।

धर्मी—बौद्ध अनुमानका विषय कल्पित सामान्य मानते हैं, क्षणिक स्वलक्षण नहीं। आ० दिग्गाने कहा है कि—समस्त अनुमान-अनुमेयव्यवहार बुद्धिकल्पित धर्मधर्मिन्यायसे चलता है, किसी धर्मीकी वास्तविक सत्ता नहीं है। अकलंकदेव कहते हैं कि—जिस तरह प्रत्यक्ष परपदार्थ तथा स्वरूपको विषय करता है उसी तरह अनुमान भी वस्तुभूत अर्थको ही विषय करता है। हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष उस वस्तुको स्फुट तथा विशेषाकार रूपसे ग्रहण करे और अनुमान उसे अस्फुट एवं सामान्याकार रूपसे। पर इतने मात्रसे एक वस्तुविषयक और दूसरा अवस्तुको विषय करनेवाला नहीं कहा जा सकता। जिस विकल्पज्ञानसे आप धर्मधर्मि-भावकी कल्पना करते हैं, वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पकसे तो सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि निर्विकल्पक—निश्चय-शून्यज्ञानसे किसी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। विकल्पान्तरसे सिद्धि माननेमें अनवस्था दूषण आता है। अतः विकल्पको स्व और अर्थ दोनों ही अंशोंमें प्रमाण मानना चाहिए। जब विकल्प अर्थांशमें प्रमाण हो जायगा; तब ही उसके द्वारा विषय किए गए धर्मी आदि भी सत्य एवं परमार्थ सिद्ध होंगे। यदि धर्मी ही मिथ्या है; तब तो उसमें रहनेवाले साध्य-साधन भी मिथ्या एवं कल्पित ठहरेंगे। इस तरह परम्परासे भी अनुमानके द्वारा अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः धर्मीको प्रमाणसिद्ध मानना चाहिए केवल विकल्प-सिद्ध नहीं। अकलंकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दिने इसी आशयसे परीक्षामुखसूत्रमें धर्मीके तीन भेद किए हैं—

१. प्रमाणसिद्ध, २. विकल्पसिद्ध, ३. उभयसिद्ध।

अनुमानके भेद—न्यायसूत्रमें अनुमानके तीन भेद किए हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। सांख्यतत्त्वकीमुदीमें अनुमानके दो भेद पाये जाते हैं—एक वीत और दूसरा अवीत। वीत अनुमान के दो भेद— १. पूर्ववत्, २. सामान्यतोदृष्ट। सांख्यके इन भेदोंकी परम्परा वस्तुतः प्राचीन है। वैशेषिकने अनुमानके कार्यलिंगज, कारणलिंगज, संयोगिलिंगज और समवायिलिंगज, इस तरह पाँच भेद किए हैं। अकलंकदेव तो सामान्यरूपसे एक ही अन्यथानुपपत्ति लिंगज अनुमान मानते हैं। वे इन अपूर्ण भेदोंकी परिगणनाको महत्त्व नहीं देते।

वाद—नैयायिक कथाके तीन भेद मानते हैं—१. वाद, २. जल्प, ३. वितण्डा। वीतरागकथाका नाम वाद है तथा विजिगीषुकथाका नाम जल्प और वितण्डा है। पक्ष-प्रतिपक्ष तो दोनों कथाओंमें ग्रहण किए ही जाते हैं। हाँ, इतना अन्तर है कि—वादमें स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्कके द्वारा होते हैं, जब कि जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरोसे भी किए जा सकते हैं। नैयायिकने छलादिके प्रयोगको असदुत्तर माना है और साधारण अवस्थामें उनके प्रयोगका निषेध भी किया है। वादका प्रयोजन तत्त्वनिर्णय है। जल्प और वितण्डाका प्रयोजन है—तत्त्वसंरक्षण, जो छलजातिरूप

असदुपायोंसे भी किया जा सकता है। जैसे खेतकी रक्षाके लिए काटोंकी बारी लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वसरक्षणके लिए काँटेके समान छलादिके प्रयोगका अवलम्बन अमुक अवस्थामें ठीक है। आ० धर्मकीर्तिने अपने वादन्यायमें छलादिके प्रयोगको बिलकुल अन्याय्य बताया है। उसी तरह अकलंकदेव अहिंसाकी दृष्टिसे किसी भी हालतमें छलादि रूप असदुत्तरके प्रयोगको उचित नहीं समझते। छलादिको अन्याय्य मान लेनेसे जल्प और वादमें कोई भेद ही नहीं रह जाता। अतः वे वादको ही एकमात्र कथा रूपसे स्वीकार करते हैं। उनमें वादका संक्षेपमें 'समर्थवचनको वाद कहते हैं' यह लक्षण करके कहा है कि वादि-प्रतिवादियोंका मध्यस्थोंके सामने स्वपक्षसाधन-परपक्षदूषणवचनको वाद कहना चाहिए। इस तरह वाद और जल्पको एक मान लेनेपर वे यथेच्छ कहीं वाद शब्दका प्रयोग करते हैं तो कहीं जल्पका। वितण्डाको जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र प्रतिवादीके पक्षका खण्डन ही खण्डन करता है, वादाभास कहकर त्याज्य बताया है।

जय-पराजयव्यवस्था—नैयायिकने इसके लिए प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने हैं जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञाकी हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद-वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहनेपर भी प्रतिवादी और परिषद न समझ पावे, हेतुदृष्टान्तादिका क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून कहे जायँ, अधिक अवश्य कहे जायँ, पुनरुक्त हो, प्रतिवादो वादीके द्वारा कहे गए पक्षका अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, वादीके द्वारा दिए गए दूषणको अर्धस्वीकारकर खण्डन करे, निग्रहाहंके लिए निग्रहस्थान उद्भावन न कर सके, अनिग्रहाहंको निग्रहस्थान बता देवे, सिद्धान्तविरुद्ध बोल जावे, हेत्वाभासोंका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। सामान्यसे नैयायिकोंने विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान माना है। विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना। अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नहीं करना, स्थापितका प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्धका उद्धार नहीं करना। प्रतिज्ञाहान्यादि २२ तो इन्हीं दोनोंके ही विशेष प्रकार हैं।

धर्मकीर्तिने इनका खण्डन करते हुए लिखा है कि—जय-पराजयव्यवस्थाको इस तरह गुटालेमें नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादीका मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या अमुक कायदेका पालन नहीं कर सका, सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन, ये दो ही निग्रहस्थान मानना चाहिये। वादीका कर्तव्य है कि वह सच्चा और पूर्ण साधन बोले। प्रतिवादीका कार्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधनके अंग नहीं हैं ऐसे वचन कहता है तो उसका असाधनाङ्गवचन होनेसे पराजय होना चाहिये। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषोंका उद्भावन न कर सके या जो दोष नहीं हैं उनका उद्भावन करे तो उसका पराजय होना चाहिए। इस तरह सामान्यलक्षण करनेपर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपलेमें पड़ गए। उन्होंने असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावनके विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्तमेंसे केवल एक दृष्टान्तसे ही जब साध्यकी सिद्धि संभव है तो दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग है, उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमनादि साधनके अंग नहीं हैं, उनका कथन असाधनाङ्ग है। यह सब लिखकर अन्तमें उनमें यह भी सूचन किया है कि—स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरण जयलाभके लिए आवश्यक है।

अकलंकदेव असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावनके झगड़ेको भी पसन्द नहीं करते। किसको साधनाङ्ग माना जाय किसको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं, यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थका विषय ही

जाता है। अतः स्वपक्षसिद्धिसे ही जयव्यवस्था माननी चाहिए। स्वपक्षमिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक बोल जाय तो कुछ हानि नहीं। प्रतिवादी यदि विरुद्ध हेत्वाभासका उद्भावन करता है तो फिर उसे स्वन्त्र रूपसे पक्षमिद्धिकी भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वादीके हेतुको विरुद्ध कहनेसे प्रतिवादीका पक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। हाँ, असिद्ध आदि हेत्वाभासके उद्भावन करनेपर प्रतिवादीको अपना पक्ष भी सिद्ध करना चाहिए। स्वपक्षसिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थके नियमोंके अनुसार चलनेपर भी जयका भागी नहीं हो सकता।

जाति—मिथ्या उत्तरोंको जाति कहते हैं। जैसे धर्मकीर्तिका अनेकान्तके रहस्यको न समझकर यह कहना कि—“यदि सभी वस्तुएँ द्रव्यदृष्टिसे एक हैं तो द्रव्यदृष्टिसे तो दही और ऊँट भी एक हो गया। अतः दही खानेवाला ऊँटको भी क्यों नहीं खाता?” साधर्म्यादिसम जातियोंको अकलंकदेव कोई खास महत्त्व नहीं देते और न उनकी आवश्यकता ही समझते हैं। आ० दिग्नागकी तरह अकलंकदेवने भी असदुत्तरोंको अनन्त कहकर जातियोंकी २४ संख्या भी अपूर्ण सूचित की है।

श्रुत—समस्त एकान्त प्रवादोंके अगोचर, प्रमाणसिद्ध, परमात्मके द्वारा उपदिष्ट प्रवचन श्रुत है। श्रुत द्वीप, देश, नदी आदि व्यवहित अर्थोंमें प्रमाण है। हेतुवादरूप आगम युक्तिसिद्ध है। उसमें प्रमाणता होनेसे शेष अहेतुवाद आगम भी उसी तरह प्रमाण है। आगमकी प्रमाणताका प्रयोजक आप्तोक्तत्व नामका गुण होता है।

शब्दका अर्थवाचकत्व—बौद्ध शब्दका वाच्य अर्थ नहीं मानते। वे कहते हैं कि शब्दकी प्रवृत्ति संकेतसे होती है। स्वलक्षण क्षणक्षयी तथा अनन्त हैं। जब अनन्त स्वलक्षणोंका ग्रहण भी संभव नहीं है तब संकेत कैसे ग्रहण किया जायगा? ग्रहण करनेपर भी व्यवहार काल तक उसकी अनुवृत्ति न होनेसे व्यवहार कैसे होगा? शब्द अतीतानागतकालीन अर्थोंमें भी प्रयुक्त होते हैं, पर वे अर्थ विद्यमान तो नहीं हैं। अतः शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध हो तो शब्दबुद्धिका प्रतिभास इन्द्रियबुद्धिकी तरह स्पष्ट होना चाहिए। शब्दबुद्धिमें यदि अर्थ कारण नहीं है, तब वह उसका विषय कैसे हो सकेगा? क्योंकि जो ज्ञानमें कारण नहीं है वह ज्ञानका विषय भी नहीं हो सकता। यदि अर्थ शब्दज्ञानमें कारण हो; तो फिर कोई भी शब्द विसंवादी या अप्रमाण नहीं होगा, अतीतानागत अर्थोंमें शब्दकी प्रवृत्ति ही रुक जायगी। संकेत भी शब्द और अर्थ उभयका ज्ञान होनेपर ही हो सकता है। एक प्रत्यक्षसे तो उभयका ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष अर्थको विषय नहीं करता तथा चाक्षुषादिप्रत्यक्ष शब्दको विषय नहीं करते। स्मृति तो निर्विषय एवं गृहीतप्राही होनेसे प्रमाण ही नहीं है। इसलिए शब्द अर्थका वाचक न होकर विवक्षाका सूचन करता है। शब्दका वाच्य अर्थ न होकर कल्पित—बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यायोहरूप सामान्य है। इसलिए शब्दसे होनेवाले ज्ञानमें सत्यार्थताका कोई नियम नहीं है।

अकलंकदेव इसका समालोचन करते हुए कहते हैं कि—पदार्थमें कुछ धर्म सदृश तथा कुछ धर्म विसदृश होते हैं। सदृशधर्मोंकी अपेक्षासे शब्दका अर्थमें संकेत होता है। जिस शब्दमें संकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वह व्यवहारकाल तक नहीं पहुँचे पर तत्सदृश दूसरे शब्दसे अर्थबोध होनेमें क्या बाधा है? एक घटशब्दका एक घट अर्थमें संकेत ग्रहण करनेके बाद तत्सदृश यावद् घटोंमें तत्सदृश यावद् घटशब्दोंकी प्रवृत्ति होती है। केवल सामान्यमें संकेत नहीं होता; क्योंकि केवल सामान्यमें संकेत ग्रहण करनेसे विशेषमें प्रवृत्ति रूप फल नहीं हो सकेगा। न केवल विशेषमें; अनन्त विशेषोंमें संकेतग्रहणकी शक्ति अस्मदादि पामर जनोंमें नहीं है। अतः सामान्य-विशेषात्मक—सदृशधर्मविशिष्ट शब्द और अर्थव्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जाता है। संकेत ग्रहणके अनन्तर

शब्दार्थका स्मरण करके व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीतार्थको जानकर भी प्रमाण है उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है। प्रत्यक्षबुद्धिमें अर्थ कारण है, अतः वह एक क्षण पहिंके रहता है ज्ञानकालमें नहीं। ज्ञानकालमें तो वह क्षणिक होनेसे नष्ट हो जाता है। जब अविस्वादिप्रयुक्त प्रमाणता स्मृतिमें है ही, तब शब्द सुनकर स्मृतिके द्वारा अर्थबोध करके तथा अर्थ देखकर स्मृतिके द्वारा तद्वाचक शब्दका स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलता ही है। यह अवश्य है कि—सामान्यविशेषात्मक अर्थको विषय करनेपर भी अक्ष-ज्ञान स्पष्ट तथा शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे एक ही वृक्षको विषय करनेवाला दूरवर्ती पुरुषका ज्ञान अस्पष्ट तथा समीपवर्तीका स्पष्ट होता है। स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेद प्रयुक्त नहीं हैं, किन्तु आवरण-क्षयोपशमादिसामग्रीप्रयुक्त है। जिस प्रकार अविनाभावसम्बन्धसे अर्थका बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविस्वादी होनेसे प्रमाण है उसी तरह वाच्यवाचकसम्बन्धसे अर्थका ज्ञान करानेवाला शब्दबोध भी ही प्रमाण होना चाहिए। यदि शब्द बाह्यार्थमें प्रमाण न हो; तब बौद्ध स्वयं शब्दोंसे अदृष्ट नदी, देश, पर्वतादिका अविस्वादि ज्ञान कैसे करते हैं? यदि कोई एकाध शब्द अर्थकी गैरमौजूदगीमें प्रयुक्त होनेसे व्यभिचारी देखा गया तो मात्र इतनेसे सभी शब्दोंको व्यभिचारी या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान कहीं-कहीं भ्रान्त देखे जानेपर भी अभ्रान्त या अव्यभिचारि विशेषणोंसे युक्त होकर प्रमाण है उसी तरह आभ्रान्त शब्दको बाह्यार्थमें प्रमाण मानना चाहिए। यदि हेतुवादरूप शब्दके द्वारा अर्थका निश्चय न हो; तो साधन और साधनाभासकी व्यवस्था कैसे होगी? इसी तरह आप्तके वचनके द्वारा अर्थबोध न हो तो आप्त और अनाप्तकी व्यवस्था कैसे की जायगी? यदि पुरुषोंके अभिप्रायोंमें विचित्रता होनेके कारण शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिए जायें; तो सुगतकी सर्वज्ञता या सर्वशास्तृतामें कैसे विश्वास किया जा सकेगा? वहाँ भी अभिप्रायवैचित्र्यकी शंका उठ सकती है। यदि अर्थव्यभिचार देखा जानेके कारण शब्द अर्थमें प्रमाण नहीं है; तो विवक्षाका भी तो व्यभिचार देखा जाता है, अन्य शब्दकी विवक्षामें अन्य शब्दका प्रयोग उपलब्ध होता है। इस तरह तो शिंशपात्व हेतु वृक्षाविस्वादी होनेपर कहीं-कहीं शिंशपाकी लताकी संभावनासे, अग्नि ईंधनसे पैदा होती है पर कहीं मणि आदिसे उत्पन्न होनेके कारण सभी स्वभावहेतु तथा कार्यहेतु व्यभिचारी हो जायेंगे। अतः जैसे यहाँ सुविवेचित व्याप्य और कार्य, व्यापक और कारणका उल्लंघन नहीं कर सकते उसी तरह सुविवेचित शब्द अर्थका व्यभिचारो नहीं हो सकता। अतः अविस्वादि श्रुतको अर्थमें प्रमाण मानना चाहिये। शब्दका विवक्षाके साथ कोई अविनाभाव नहीं है; क्योंकि शब्द, वर्ण या पद कहीं अवांचित अर्थको भी कहते हैं तथा कहीं वांचितको भी नहीं कहते। यदि शब्द विवक्षामात्रके वाचक हों तो शब्दोंमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी व्यवस्था न हो सकेगी; क्योंकि दोनों ही प्रकारके शब्द अपनी-अपनी विवक्षा का अनुमान कराते हैं। शब्दमें सत्यत्वव्यवस्था अर्थप्राप्तिके कारण होती है। विवक्षा रहते हुए भी मन्दबुद्धि शास्त्रव्याख्यानरूप शब्दका प्रयोग नहीं कर पाते तथा सुषुप्तादि अवस्थामें इच्छाके न रहनेपर भी शब्दप्रयोग देखा जाता है। अतः शब्दोंमें सत्यासत्यत्वव्यवस्थाके लिए उन्हें अर्थका वाचक मानना ही होगा।

श्रुतके भेद—श्रुतके तीन भेद हैं—१ प्रत्यक्षनिमित्तक, २ अनुमाननिमित्तक, ३ आगमनिमित्तक। प्रत्यक्षनिमित्तक—परोपदेशकी सहायता लेकर प्रत्यक्षसे होनेवाला। अनुमाननिमित्तक—परोपदेशके बिना केवल अनुमानसे होनेवाला। आगमनिमित्तक—मात्र परोपदेशसे होनेवाला। जैनतर्कवातिककारने परोपदेशज तथा लिंगनिमित्तक रूपसे द्विविध श्रुत स्वीकार करके अकलंकके इस मतकी समालोचना की है।

शब्दका स्वरूप—शब्द पुद्गलकी पर्याय है। वह स्कन्ध रूप है, जैसे छाया और आतप। शब्द भीमांसकोंकी तरह नित्य नहीं हो सकता। शब्द यदि नित्य और व्यापक हो तो व्यञ्जक वायुओंसे एक जगह

उसकी अभिव्यक्ति होनेपर सभी जगह सभी वर्णोंकी अभिव्यक्ति होनेसे कोलाहल मच जायगा। संकेतके लिए भी शब्दको नित्य मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अनित्य होनेपर भी सदृशशब्दमें संकेत होकर व्यवहार हो सकता है। 'स एवायं शब्दः' यह प्रत्यभिज्ञान शब्दके नित्य होनेके कारण नहीं होता किंतु तत्सदृश शब्दमें एकत्वाध्यवसाय करनेके कारण होता है। अतः यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है। यदि इस तरह भ्रान्त प्रत्यभिज्ञानसे वस्तुओंमें एकत्व सिद्ध हो; तो बिजली आदि पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जायेंगे। शब्दकी उपादानभूत शब्दवर्गणाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनकी प्रत्यक्षसे उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी तरह शब्दकी उत्तरपर्याय भी सूक्ष्म होनेसे अनुपलब्ध रहती हैं। क्रमसे उच्चरित शब्दोंमें ही पद, वाक्य आदि संज्ञाएँ होती हैं। यद्यपि शब्द सभी दिशाओंमें उत्पन्न होते हैं पर उनमेंसे जो शब्द श्रोतके साथ सन्निकृष्ट होते हैं वही श्रोत्रके द्वारा सुने जाते हैं, अन्य नहीं। श्रोत्रको प्राप्यकारी कहकर अकलंकदेवने बौद्धके 'श्रोत्रको भी चक्षु-रिन्द्रियकी तरह अप्राप्यकारी माननेके' सिद्धान्तका खण्डन किया है। इसतरह शब्द तात्वादिके संयोगसे उत्पन्न होता है और वह श्रावणमध्यस्वभाव है। इसीमें इच्छानुसार संकेत करनेसे अर्थबोध होता है।

वेदापौरुषेयत्व विचार—मीमांसक वेदको अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि धर्ममें वेदवाक्य ही प्रमाण हो सकते हैं। चूँकि प्रत्यक्षसे अतीन्द्रिय पुण्यपापादि पदार्थोंके ज्ञानकी सम्भावना नहीं है, अतः अतीन्द्रिय धर्मादिका प्रतिपादक वेद किसी पुरुषकी कृति नहीं हो सकता। आज तक उसके कर्त्तिका स्मरण भी तो नहीं है। यदि कर्त्ता होता तो अवश्य ही उसका स्मरण होना चाहिए था। अतः वेद अपौरुषेय तथा अनादि है। अकलंकदेवने श्रुतको परमात्मप्रतिपादित बताते हुए कहा है कि—जब आत्मा ज्ञानरूप है तथा उसके प्रतिबन्धक कर्म हट सकते हैं, तब उसे अतीन्द्रियादि पदार्थोंके जाननेमें क्या बाधा है? यदि ज्ञानमें अतिशय असम्भव ही हो; तो जैमिनि आदि को वेदार्थका पूर्ण परिज्ञान कैसे सम्भव होगा? सर्वत्र प्रमाणता कारणगुणोंके ही आवीन देखी जाती है। शब्दमें प्रमाणताका लानेवाला वक्ताका गुण है। यदि वेद अपौरुषेय है; तब तो उसकी प्रमाणता ही सन्दिग्ध रहेगी। जब अतीन्द्रियदर्शी एक भी पुरुष नहीं है; तब वेदका यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है? परम्परा तो मिथ्यार्थकी भी चल सकती है। यदि समस्तार्थज्ञानमें शंका की जाती है; तब चंचल-इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें कैसे विश्वास किया जा सकता है? यदि अपौरुषेय वेद अपने अर्थका स्वतः विवरण करे; तब तो वेदके अंगभूत आयुर्वेद आदिके परिज्ञानार्थ मनुष्योंका पठन-पाठनरूप प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा। अतः सामग्रीके गुण-दोषसे ही प्रमाणता और अप्रमाणताका सम्बन्ध मानना चाहिए। शब्दकी प्रमाणताके लिए वक्ताका सम्यग्ज्ञान ही एकमात्र अंकुश ही सकता है। जब वेदका कोई अतीन्द्रियार्थ-द्रष्टा नियामक नहीं है; तब उसके अर्थमें अन्धपरम्परा ही हुई। आज तक अनादिकाल बीत चुका, ऐसा अनाप्त वेद नष्ट क्यों नहीं हुआ? अनादि माननेसे या कर्त्तिका स्मरण न होनेसे ही तो कोई प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि लोकमें बहुतसे ऐसे म्लेच्छादिव्यवहार या गाली-गलौज आदि पाए जाते हैं, जिनके कर्त्तिका आज तक किसी को स्मरण नहीं है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण तो नहीं माने जा सकते। इसलिए वेदके अर्थमें यथार्थताका नियामक अतीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषविशेष ही मानना चाहिए। कर्त्तिका अस्मरणरूप हेतु जीर्ण खण्डहर, कुआ आदि चीजोंसे, जिनके कर्त्तिका किसीको स्मरण नहीं है, अनैकान्तिक है। अतः सर्वज्ञप्रतिपादित आगमको ही अतीन्द्रियधर्म आदिमें भी प्रमाण मानना चाहिए। सर्वज्ञके माने बिना वेदकी प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती; क्योंकि अपौरुषेय वेदका व्याख्याता यदि रागी, द्वेषी और अज्ञानी पुरुष होगा तो उसके द्वारा किया गया व्याख्यान प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकेगा। व्याख्याभेद होनेपर अन्तिम निर्णय तो धर्मादिके साक्षात्कर्त्ता का ही माना जा सकता है।

परपरिकल्पित प्रमाणान्तर्भाव—नैयायिक प्रसिद्ध अर्थके सादृश्यसे साध्यके साधनको—संज्ञासंज्ञि-

सम्बन्धज्ञानको उपमान कहते हैं। जैसे किसी नागरिकने यह सुना कि 'गौके सदृश गवय होता है।' यह जंगलमें गया। वहाँ गवयको देखकर उसमें गोसादृश्यका ज्ञान करके गवयसंज्ञाका सम्बन्ध जोड़ता है और गवयशब्दका व्यवहार करता है। इसी संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञानको उपमान प्रमाण कहते हैं। अकलंकदेव इस ज्ञानका यथासम्भव अनुमान तथा प्रत्यभिज्ञानमें अंतर्भाव करते हुए कहते हैं कि—यदि प्रसिद्धार्थका सादृश्य अविनाभावी रूपसे निर्णीत है तब तो वह लिगात्मक हो जायगा और उससे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमान कहलायगा। यदि अविनाभाव निर्णीत नहीं है; तो दर्शन और स्मरणपूर्वक सादृश्यात्मक संकलन होनेके कारण यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भूत होगा। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भूत होनेपर भी यदि इस ज्ञानको स्वतंत्ररूपसे उपमान नामक प्रमाण मानोगे; तो भैंसको देखकर 'यह गवय नहीं है' या 'यह गौसे विलक्षण है' इस वैलक्षण्यज्ञानको किस प्रमाणरूप मानोगे? 'शाखादिवाला वृक्ष होता है' इस शब्दको सुनकर वैसे ही शाखादिमान् अर्थको देखकर 'वृक्षोऽयम्' इस ज्ञानको किस नामसे पुकारोगे? इसी तरह 'यह इससे पूर्वमें है, यह इससे पश्चिममें है', 'यह छोटा है, यह बड़ा है', 'यह दूर है, यह पास है', 'यह ऊँचा है, यह नीचा है', 'ये दो हैं, यह एक है' इत्यादि सभी ज्ञान उपमानसे पृथक् प्रमाण मानने होंगे; क्योंकि उक्त ज्ञानोंमें प्रसिद्धार्थसादृश्यकी तो गंध भी नहीं है। अतः जिनमें दर्शन और स्मरण कारण हो उन सभी संकलनरूप ज्ञानोंको प्रत्यभिज्ञान कहना चाहिए, भले ही वह संकलन सादृश्य वैसदृश्य या एकत्वादि किसी भी विषयक वयों न हो। उक्त सभी ज्ञान हितप्राप्ति, अहितपरिहार तथा उपेक्षाज्ञानरूप फलके उत्पादक होनेसे अप्रमाण तो कहे ही नहीं जा सकते।

मीमांसक जिस साधनका साध्यके साथ अविनाभाव पहिले किसी सपक्षमें गृहीत नहीं है उस साधनसे तत्कालमें ही अविनाभाव ग्रहण करके होनेवाले साध्यज्ञानको अर्थापत्ति कहते हैं। इससे शक्ति आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी ज्ञान किया जाता है। अकलंकदेवने अर्थापत्तिको अनुमानमें अन्तर्भूत किया है; क्योंकि अविनाभावी एक अर्थसे दूसरे अर्थका ज्ञान अनुमान तथा अर्थापत्ति दोनोंमें समान है। सपक्षमें व्याप्तिका गृहीत होना या न होना प्रमाणान्तरताका प्रयोजक नहीं हो सकता। सम्भव नामका प्रमाण यदि अविनाभावप्रयुक्त है; तो उसका अनुमानमें अन्तर्भाव होगा। यदि अविनाभावप्रयुक्त नहीं है; तब तो वह प्रमाण ही नहीं हो सकता। ऐतिह्य नामका प्रमाण यदि आप्तोपदेशमूलक है, तो आगमनामक प्रमाणमें अन्तर्भूत होगा। यदि आप्तमूलत्व संदिग्ध है; तो वह प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकता। अभाव नामका प्रमाण यथासम्भव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमानादि प्रमाणोंमें अन्तर्भूत समझना चाहिए। इस तरह परपरिकल्पित प्रमाणोंका अंतर्भाव होनेपर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही मूल प्रमाण हो सकते हैं।

प्रमाणाभास—अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है, अतः विसंवादि ज्ञान प्रमाणाभास होगा। यहाँ अकलंकदेवकी एक दृष्टि विशेषरूपसे विचारणीय है। वे किसी ज्ञानको सर्वथा विसंवादि नहीं कहते। वे कहते हैं कि—जो ज्ञान जिस अंशमें अविसंवादि हो वह उस अंशमें प्रमाण तथा विसंवादि-अंशमें अप्रमाण होगा। हम किसी भी ज्ञानको एकान्तसे प्रमाणाभास नहीं कह सकते। जैसे तिमिररोगीका द्विचन्द्रज्ञान चन्द्रांशमें अविसंवादी है तथा द्वित्वसंख्यामें विसंवादी है, अतः इसे चन्द्रांशमें प्रत्यक्ष तथा द्वित्वांशमें प्रत्यक्षाभास कहना चाहिए। इस तरह प्रमाण और प्रमाणाभासकी संकीर्ण स्थिति रहनेपर भी जहाँ अविसंवादकी प्रकर्षता हो वहाँ प्रमाण व्यपदेश तथा विसंवादके प्रकर्षमें प्रमाणाभास व्यपदेश करना चाहिए। जैसे कस्तूरीमें रूप, रस आदि सभी गुण मौजूद हैं, पर गन्धकी प्रकर्षता होनेके कारण उसमें 'गन्धद्रव्य' व्यपदेश होता है।

ज्ञानके कारणोंका विचार—बौद्धके मतसे चार प्रत्ययोंसे चित्त और चैत्योंकी उत्पत्ति होती है—

१. समनन्तरप्रत्यय, २. अधिपतिप्रत्यय, ३. आलम्बनप्रत्यय, ४. सहकारिप्रत्यय । ज्ञानकी उत्पत्तिमें पूर्वज्ञान समनन्तरकारण होता है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ अधिपतिप्रत्यय होती हैं, पदार्थ आलम्बनप्रत्यय तथा आलोक आदि अन्य कारण सहकारिप्रत्यय होते हैं । इस तरह बौद्धकी दृष्टिसे ज्ञानके प्रति अर्थ तथा आलोक दोनों ही कारण हैं । उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—‘नाकारणं त्रिषयः’ अर्थात् जो ज्ञानका कारण नहीं होगा वह ज्ञानका विषय भी नहीं होगा । नैयायिकादि इन्द्रियार्थसन्निकर्षको ज्ञानमें कारण मानते हैं अतः उनके मतसे सन्निकर्ष-घटक-तया अर्थ भी ज्ञानका कारण है ही ।

अर्थकारणतानिरास—ज्ञान अर्थका कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि ‘यह अमुक अर्थ है’ । वह यह नहीं जानता कि ‘मैं इस अर्थसे उत्पन्न हुआ हूँ’ । यदि ज्ञान यह जानने लगे कि ‘मैं इस अर्थसे पैदा हुआ हूँ’; तब तो विवादको स्थान ही नहीं रहता । जब उत्पन्न ज्ञान अर्थके परिच्छेदमें व्यापार करता है तब वह अपने अन्य इन्द्रियादि उत्पादक कारणोंकी सूचना स्वयं ही करता है; क्योंकि यदि ज्ञान उसी अर्थसे उत्पन्न हो जिसे वह जानता है, तब तो वह उस अर्थको जान ही नहीं सकेगा; क्योंकि अर्थकालमें तो ज्ञान अनुत्पन्न है तथा ज्ञानकालमें अर्थ विनष्ट हो चुका है । यदि ज्ञान अपने कारणोंको जाने; तो उसे इन्द्रियादिकको भी जानना चाहिए । ज्ञानका अर्थके साथ अन्वय और व्यतिरेक न होनेसे भी उनमें कारण-कार्यभाव नहीं हो सकता । संशयज्ञान अर्थके अभावमें भी हो जाता है । संशयज्ञानस्थलमें स्थाणु-पुरुषरूप दो अर्थ तो विद्यमान नहीं हैं । अर्थ या तो स्थाणुरूप होगा या पुरुषरूप । व्यभिचार-अन्यथा प्रतिभास बुद्धिगत धर्म है । जब मिथ्याज्ञानमें इन्द्रियगत-तिमिरादि, विषयगत-आशुभ्रमणादि, बाह्य-तौका-में यात्रा करना आदि तथा आत्मगत-वातपित्तदिजन्म क्षोभ आदि दोष कारण होते हैं; तब तो अर्थकी हेतुता अपने ही आप व्यर्थ हो जाती है । मिथ्याज्ञान यदि इन्द्रियोंकी दृष्टतासे होता है; तो सत्यज्ञानमें भी इन्द्रियगत निर्दोषता ही कारण होगी । अतः इन्द्रिय और मनको ही ज्ञानमें कारण मानना चाहिए । अर्थ तो ज्ञानका विषय ही हो सकता है, कारण नहीं ।

अन्य कारणोंसे उत्पन्न बुद्धिके द्वारा सन्निकर्षका निश्चय होता है, सन्निकर्षसे बुद्धिका निश्चय तो नहीं देखा जाता । सन्निकर्षप्रविष्ट अर्थके साथ ज्ञानका कार्यकारणभाव तब निश्चित हो सकेगा; जब सन्निकर्षप्रविष्ट आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञानके विषय हों । पर आत्मा, मन और इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं, अतः पदार्थके साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी अतोन्द्रिय होगा और जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है, तब उसे ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण कैसे माना जाय ? ज्ञान अर्थको तो जानता है, पर अर्थमें रहनेवाली स्व-कारणताको नहीं जानता । ज्ञान जब अतीत और अनागत पदार्थोंको जो ज्ञानकालमें अविद्यमान हैं, जानता है; तब तो अर्थकी ज्ञानके प्रति कारणता अपने आप निःसार सिद्ध हो जाती है । देखो—कामलादि रोगवालेको शुक्लशंखमें अविद्यमान पीलेपनका ज्ञान होता है । मरणोन्मुख व्यक्तिको अर्थके रहने-पर भी ज्ञान नहीं होता या विपरीतज्ञान होता है ।

क्षणिक अर्थ तो ज्ञानके प्रति कारण हो ही नहीं सकता; क्योंकि जब वह क्षणिक होनेसे कार्यकाल तक नहीं पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय ? अर्थके होनेपर उसके कालमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तथा अर्थके अभावमें ही ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ज्ञान अर्थका कार्य कैसे माना जाय ? कार्य और कारण एक साथ तो रह ही नहीं सकते । यह कहना भी ठीक नहीं है कि—“यद्यपि अर्थ नष्ट हो चुका है पर वह अपना आकार ज्ञानमें समर्पित कर चुकनेके कारण ग्राह्य होता है । पदार्थमें यही ग्राह्यता है कि—वह ज्ञानको उत्पन्न कर उसमें अपना आकार अर्पण करे ।” क्योंकि ज्ञान अमूर्त है वह मूर्त्त अर्थके प्रतिबिम्बको धारण नहीं कर सकता । मूर्त्त दर्पणादिमें ही मुखादिका प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्त्तमें मूर्त्तका नहीं । यदि

पदार्थसे उत्पन्न होनेके कारण ज्ञानमें विषयप्रतिनियम हो; तो जब इन्द्रिय आदिसे भी घटज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे घटकी तरह इन्द्रिय आदिको भी विषय करना चाहिये। तदाकारतासे विषयप्रतिनियम माननेपर एक अर्थका ज्ञान करनेपर उसी आकारवाले यावत् समान अर्थका परिज्ञान होना चाहिए। तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर यदि विषयनियामक हों; तो घटज्ञानसे उत्पन्न द्वितीय घटज्ञानको, जिसमें पूर्वज्ञानका आकार है तथा जो पूर्वज्ञानसे उत्पन्न भी हुआ है, अपने उपादानभूत पूर्वज्ञानको जानना चाहिये। पर बौद्धोंके सिद्धान्तानुसार 'ज्ञानं ज्ञानस्य न नियामकम्'—ज्ञान ज्ञानका नियामक नहीं होता। तदध्यवसाय (अनुकूल विकल्पका उत्पन्न होना) से भी वस्तुका प्रतिनियम नहीं होता; क्योंकि शुक्लशंखमें होनेवाले पीताकारज्ञानसे उत्पन्न द्वितीयज्ञानमें तदध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नहीं है। अतः अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञानमें परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव-विषय-विषयिभाव होता है। जैसे दीपक अपने तैलादि कारणोंसे प्रज्वलित होकर मिट्टी आदिसे उत्पन्न होनेवाले घटादिको प्रकाशित करता है, उसीतरह इन्द्रिय तथा मन आदि कारणोंसे उत्पन्न ज्ञान अपने कारणोंसे उत्पन्न अर्थको जानेगा। जैसे 'देवदत्त काठको छेदता है' यहाँ अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न देवदत्त तथा काष्ठमें कर्तृ-कर्मभाव है उसी तरह स्व-स्वकारणोंसे समुत्पन्न ज्ञेय और ज्ञानमें ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव होता है। जैसे खदानसे निकली हुई मलयुक्त मणि अनेक शाण आदि कारणोंसे तरतम-न्यूनाधिकरूपसे निर्मल एवं स्वच्छ होती है उसी तरह कर्मयुक्त आत्माका ज्ञान अपनी विशुद्धिके अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है, और अपनी क्षयोपशम-रूप योग्यताके अनुसार पदार्थोंको जानता है। अतः अर्थको ज्ञानमें कारण नहीं माना जा सकता।

आलोककारणतानिरास—आलोकज्ञानका विषय आलोक होता है, अतः वह ज्ञानका कारण नहीं हो सकता। जो ज्ञानका विषय होता है वह ज्ञानका कारण नहीं होता जैसे अन्धकार। आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे भी वह ज्ञानका कारण नहीं कहा जा सकता। यदि आलोक ज्ञानका कारण हो तो उसके अभावमें ज्ञान नहीं होना चाहिये, पर अन्धकारका ज्ञान आलोकके अभावमें ही होता है। नक्त-ञ्चररात्रिचारी उल्लू आदिको आलोकके अभावमें ही ज्ञान होता है तथा उसके सद्भावमें नहीं। 'आलोकके अभावमें अन्धकारकी तरह अन्य पदार्थ क्यों नहीं दिखते' इस शंकाका उत्तर यह है कि—अन्धकार अन्य पदार्थोंका निरोध करनेवाला है, अतः आलोकके अभावमें निरोध करनेवाला अन्धकार तो दिखता है पर उससे निरुद्ध अन्य पदार्थ नहीं। जैसे एक महाघटके नीचे दो चार छोटे घट रखे हों, तो महाघटके दिखनेपर भी उसके नीचे रखे हुए छोटे घट नहीं दिखते। अन्धकार ज्ञानका विषय है अतः वह ज्ञानका आवरण भी नहीं माना जा सकता। ज्ञानका आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है। इसीके क्षयोपशमकी तरतमतासे ज्ञानके विकासमें तारतम्य होता है। अतः आलोकके साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे आलोक भी ज्ञानका कारण नहीं हो सकता। अर्थालोककारणताविषयक अकलंकके इन विचारोंका उत्तरकालीन माणिक्यनन्दि आदि आचार्योंने प्रायः उन्हींके ही शब्दोंमें अनुसरण किया है।

प्रमाणका फल—प्रशस्तपादभाष्य तथा न्यायभाष्यादिमें हान, उपादान एवं उपेक्षाबुद्धिको प्रमाणका फल कहा है। समन्तभद्र, पूज्यपाद आदिने अज्ञाननिवृत्तिका भी प्रमाणके अभिन्न फलरूपसे प्ररूपण किया है। अकलंकदेव अज्ञाननिवृत्तिके विधिपरकरूपतत्त्वनिर्णयका तथा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धिके साथ ही परनिःश्रेयसका भी प्रमाणके फलरूपसे कथन करते हैं। केवलज्ञान वीतराग योगियोंके होता है अतः उनमें रागद्वेष-जन्म हानोपादानका संभव ही नहीं है, इसलिये केवलज्ञानका फल अज्ञाननिवृत्ति और उपेक्षाबुद्धि है। इनमें अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका साक्षात् फल है, शेष परम्परासे।

२. प्रमेयनिरूपण

प्रमाणका विषय—यद्यपि अकलंकदेवने प्रमाणके विषयका निरूपण करते समय लघ्वीयस्त्रयमें द्रव्य-पर्यायात्मक अर्थको ही प्रमेय बताया है, पर न्यायविनिश्चयमें उन्होंने द्रव्य-पर्यायके साथ ही साथ सामान्य और विशेष ये दो पद भी प्रयुक्त किए हैं। वस्तुमें दो प्रकारका अस्तित्व है—१. स्वरूपास्तित्व, २. सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्यकी पर्यायोंको दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असङ्कीर्ण रखनेवाला स्वरूपास्तित्व है। जैसे एक शाबलेय गौ की हरएक अवस्थामें 'शाबलेय शाबलेय' व्यवहार करानेवाला तत्-शाबलेयत्व। इससे एक शाबलेय गौव्यक्तिकी पर्यायें अन्य सजातीय शाबलेयादि गौव्यक्तियोंसे तथा विजातीय अश्वादिव्यक्तियोंसे अपनी पृथक् सत्ता रखती हैं। इसीको जैन द्रव्य, ध्रौव्य, अन्वय, ऊर्ध्वतासामान्य आदि शब्दोंसे व्यवहृत करते हैं। मालूम तो ऐसा होता है कि बौद्धोंने सन्तानशब्दका प्रयोग ठीक इसी अर्थमें किया है। इसी स्वरूपास्तित्वको विषय करनेवाला 'यह वही है' यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है। अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता रखनेवाले पदार्थोंमें अनुगतव्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व है। जैसे भिन्न-भिन्न गौव्यक्तियोंमें 'गौ गौ' इस अनुगत-व्यवहारको करानेवाला साधारण गोत्व। इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। गौत्वादि जातियाँ सदृशपरिणाम रूप ही हैं; नित्य एक तथा निरंश नहीं हैं। एक द्रव्यकी पूर्वोत्तर पर्यायोंमें व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायरूप विशेषके निमित्तसे होता है। भिन्न सत्ता रखनेवाले दो द्रव्योंमें विलक्षणप्रत्यय व्यतिरेकरूप विशेष (द्रव्यगतभेद) से होता है। इस तरह दो प्रकारके सामान्य तथा दो प्रकारके विशेषसे युक्त वस्तु प्रमाणका विषय होती है। ऐसी ही वस्तु सत् है। सत्का लक्षण है—उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त होना। सत्को ही द्रव्य कहते हैं। उत्पाद और व्यय पर्यायकी दृष्टिसे है जब कि ध्रौव्य गुणकी दृष्टिसे। अतः द्रव्यका गुण-पर्यायवत्त्व लक्षण भी किया गया है। द्रव्य एक अखंड तत्त्व है। वह संयुक्त या रासायनिक मिश्रणसे तैयार न होकर मौलिक है। उसमें भेदव्यवहार करनेके लिए देश, देशांश तथा गुण, गुणांशकी कल्पना की जाती है। ज्ञान अखण्डद्रव्यको ग्रहण भले ही कर ले, पर उसका व्यवहार तो एक-एक धर्मके द्वारा ही होता है। इन व्यवहारार्थ कल्पित धर्मोंको गुण शब्दसे कहते हैं। वैशेषिकोंकी तरह गुण कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। द्रव्यके सहभावी अंश गुण कहलाते हैं, तथा क्रमसे होनेवाले परिणमन पर्याय कहलाते हैं। इस तरह अखण्ड मौलिक तत्त्वकी दृष्टिसे वस्तु नित्य होकर भी क्रमिक परिणमनकी अपेक्षासे अनित्य है। नित्यका तात्पर्य इतना ही है कि—वस्तु प्रतिक्षण परिणमन करते हुए भी अपने स्वरूपास्तित्वको नहीं छोड़ सकती। कितना भी विलक्षण क्यों न हो जीव कभी भी पुद्गलरूप नहीं हो सकता। इस असांकर्यका नियामक ही द्रव्यांश है। सांख्यके अपरिणामी कूटस्थ नित्य पुरुषकी तरह नित्यता यहाँ विवक्षित नहीं है और न बौद्धकी तरह सर्वथा अनित्यता ही; जिससे वस्तु सर्वथा अपरिणामी तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण सर्वथा अनन्वित रह जाते हैं।

ध्रौव्य और सन्तान—यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि—जिस प्रकार जैन एक द्रव्यांश मानते हैं उसी तरह बौद्ध सन्तान मानते हैं। प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपसे परिणमन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षणमें पर्यायके रूपमें न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अंश बिलकुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अंश सर्वथा परिवर्तनशील; तब तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षोंमें दिए जानेवाले दोष ऐसी वस्तुमें आयेंगे। कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध माननेके कारण पर्यायोंके परिवर्तित होनेपर भी अपरिवर्तिष्णु कोई अंश ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंशसे तादात्म्य रखनेके कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही होंगे। इस तरह कोई एक ही मार्ग पकड़ना होगा—या तो वस्तु बिलकुल नित्य मानी जाय या बिलकुल परिवर्तनशील—चेतन भी अचेतन-रूपसे परिणमन करनेवाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओंके मध्यका ही वह मार्ग है जिसे हम द्रव्य कहते हैं।

जो न बिलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला जिससे अचेतन भी अपनी अचेतनत्वकी सीमाको लाँघकर चेतन बन जाए, या दूसरे अचेतन द्रव्यरूप हो जाय। अथवा एक चेतन दूसरे सजातीय चेतनरूप या विजातीय अचेतनरूप हो जाय। उमकी सीधे शब्दोंमें यही परिभाषा हो सकती है कि किसी एक द्रव्यके प्रतिक्षणमें परिणमन करनेपर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणमन नहीं होता, उस स्वरूपास्तित्वका ही नाम द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्धके द्वारा माने गए सन्तानका भी यही कार्य है कि—वह नियत पूर्वक्षणका नियत उत्तरक्षणके साथ ही कार्य-कारणभाव बनाता है क्षणान्तरसे नहीं। तात्पर्य यह कि इस सन्तानके कारण एक चेतनक्षण अपनी उत्तर चेतनक्षणपर्यायका ही कारण होगा, विजातीय अचेतनक्षणका और सजातीय चेतनान्तरक्षणका नहीं। इस तरह तात्त्विक दृष्टिसे द्रव्य या सन्तानके कार्य या उपयोगमें कोई अन्तर नहीं है। हाँ, अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूपनिरूपणमें। बौद्ध उस सन्तानको काल्पनिक कहते हैं, जब कि जैन उम द्रव्यांशको पर्याय क्षणकी तरह वास्तविक कहते हैं। सदा कूटस्थ अविकारो नित्य अर्थमें तो जैन भी उसे वस्तु नहीं कहते। सन्तानको समझानेके लिए बौद्धोंने यह दृष्टान्त दिया है कि—जैसे दस आदमी एक लाइनमें खड़े हैं पर उनमें पंक्ति जैसी कोई एक अनुस्यूत वस्तु नहीं है, उसी तरह क्रमिक पर्यायोंमें कूटस्थ नित्य कोई द्रव्यांश नहीं है। पर इस दृष्टान्तकी स्थितिसे द्रव्यकी स्थिति कुछ विलक्षण प्रकार की है। यद्यपि यहाँ दश भिन्नसत्ताक पुरुषोंमें पंक्ति नामकी कोई स्थायी वस्तु नहीं है फिर भी पंक्तिका व्यवहार हो जाता है। पर एक द्रव्यकी क्रमिक पर्यायें दूसरे द्रव्यकी पर्यायोंसे किसी स्वरूपास्तित्वरूप तात्त्विक अंशके माने बिना असंक्रान्त नहीं रह सकतीं। यहाँ एक पुरुष चाहे तो इस पंक्तिसे निकलकर दूसरी पंक्तिमें शामिल हो सकता है। पर कोई भी पर्याय चाहनेपर भी दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्यायसे संक्रान्त नहीं हो सकती और अपने द्रव्यमें भी अपना क्रम छोड़कर न आगे जा सकती है और न पीछे। अतः द्रव्यांशमात्र पंक्ति एवं सेना आदिकी तरह बुद्धिकल्पित नहीं है किन्तु क्षणकी तरह सत्य है। इस तरह द्रव्यपर्यायात्मक—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु अर्थक्रियाकारी है, सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती।

बौद्ध सत्का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व करते हैं। अर्थक्रिया दो प्रकारसे होती है—१. क्रमसे, २. यौगपद्यरूप से। उनका कहना है कि नित्य वस्तु न क्रमसे ही अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। अतः अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्वके अभावमें वह असत् ही सिद्ध होती है। नित्य वस्तु सदा एकरूप रहती है, अतः जब वह समर्थ होनेसे सभी कार्योंको युगपत् उत्पन्न कर देगी, तब कार्योंमें भेद नहीं हो सकेगा; क्योंकि कार्योंमें भेद कारणके भेदसे होता है। जब कारण एक एवं अपरिवर्तनशील है तब कार्यभेदका वहाँ अवसर ही नहीं है। यदि वह युगपत् अर्थक्रिया करे; तो सभी कार्य एक ही क्षणमें उत्पन्न हो जायँगे, तब दूसरे क्षणमें नित्य अकिञ्चित्कर ठहरेगा। इस तरह क्रमयौगपद्यसे अर्थक्रियाका विरोध होनेसे नित्य असत् है।

अकलंकदेव कहते हैं कि—यदि नित्यमें अर्थक्रिया नहीं बनती तो सर्वथा क्षणिकमें भी तो उसके बननेकी गुंजाइश नहीं है। क्षणिकवस्तु एकक्षण तक हो ठहरती है, अतः जो जिस देश तथा जिस कालमें है वह उसी देश तथा कालमें नष्ट हो जाती है। इसलिये जब वह देशान्तर या कालान्तर तक किसी भी रूपमें नहीं जाती तब देशकृत या कालकृत क्रम उसमें नहीं आ सकता, अतः उसमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनेगी। निरंश होनेसे उसमें एक साथ अनेकस्वभाव तो रहेंगे ही नहीं; अतः युगपत् भी अनेक कार्य कैसे हो सकते हैं? एक स्वभावसे तो एक ही कार्य हो सकेगा। कारणमें नाना शक्तियाँ माने बिना कार्योंमें नानात्व नहीं आ सकता। इस तरह सर्वथा क्षणिक तथा नित्य दोनों वस्तुओंमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती। अर्थक्रिया तो

उभयात्मक— नित्यानित्यात्मक वस्तुमें ही संभव है। क्षणिकमें अन्वित रूप नहीं है तथा नित्यमें उत्पाद और व्यय नहीं है। उभयात्मक वस्तुमें ही क्रम, योगपद्य तथा अनेक शक्तियाँ संभव हैं।

अर्थनिरूपणके प्रसंगमें अकलंकने विभ्रमवाद, संवेदनाद्वैतवाद, परमाणुरूपार्थवाद, अवयवसे भिन्न अवयवविवाद, अन्यापोहात्मक सामान्यवाद, नित्यैकसर्वगत-सामान्यवाद, प्रसंगसे भूतचैतन्यवाद आदिका समालोचन किया है। जिसका सार यह है—

विभ्रमवाद निरास—स्वप्नादि विभ्रमकी तरह समस्त ज्ञान विभ्रम है। जिस प्रकार स्वप्नमें या जादूके खेलमें अथवा मृगतृष्णामें अनेकों पदार्थ सत्यरूपसे प्रतिभासित तो होते हैं, पर उनकी वहाँ कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, मात्र प्रतिभाम ही प्रतिभास होता है, उसी तरह घट-पटादि ज्ञानोंके विषयभूत घट-पटादि अर्थ भी अपनी पारमाथिक सत्ता नहीं रखते। अनादिकालीन विकल्पवासनाके विचित्र परिपाकसे ही अनेकानेक अर्थ प्रतिभासित होते हैं। वस्तुतः वे सब विभ्रमरूप ही हैं। इनके मतसे किसी भी अर्थ और ज्ञानकी सत्ता नहीं है, जितना ग्राह्य-ग्राहकाकार है वह सब भ्रान्त है। इसका खंडन करते हुए अकलंकदेवने लिखा है कि—‘स्वप्नादि विभ्रमकी तरह समस्त ज्ञान विभ्रम रूप है’ इस वाक्यका अर्थ विभ्रम रूप है, कि सत्य ? यदि उक्त वाक्यका अर्थ विभ्रम—मिथ्या है; तब तो सभी अर्थोंकी सत्ता अविभ्रम-सत्य सिद्ध हो जायगी। यदि उक्त वाक्यका अर्थ सत्य है; तो समस्त वस्तुएँ विभ्रमात्मक कहाँ हुई ? कम-से-कम उक्त वाक्यका अर्थ तो स्वरूप सत् हुआ। इसी तरह अन्य वस्तुएँ भी स्वरूप सत् सिद्ध होंगी।

संवेदनाद्वैतवाद निरास—ज्ञानाद्वैतवादीमात्र ज्ञानकी ही वास्तविक सत्ता मानते हैं बाह्यार्थकी नहीं। ज्ञान ही अनादिकालीन विकल्पवासनाके कारण अनेकाकार अर्थरूपसे प्रतिभासित होता है। जैसे इन्द्र-जाल गन्धर्वनगर आदिमें अविद्यमान भी आकार प्रतिभासित होते हैं उसी तरह ज्ञानसे भिन्न घटादि पदार्थ अपनी प्रातिभासिकी सत्ता रखते हैं पारमाथिकी नहीं। इसी अभिन्नज्ञानमें प्रमाण-प्रमेय आदि भेद कल्पित होते हैं, अतः यह ग्राह्य-ग्राहकरूपसे प्रतिभासित होता है।

इसकी समालोचना करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—तथोक्त अद्वयज्ञान स्वतः प्रतिभासित होता है, या परतः ? यदि स्वतः प्रतिभासित हो; तब तो विवाद ही नहीं होना चाहिए। आपकी तरह ब्रह्मवादी भी अपने ब्रह्मका भी स्वतः प्रतिभास ही तो कहते हैं। परतः प्रतिभास तो परके बिना नहीं हो सकता। परको स्वीकार करनेपर द्वैतप्रसंग होगा। इन्द्रजालदृष्ट पदार्थ तथा बाह्यसत् पदार्थोंमें इतना मोटा भेद है कि उसमें स्त्रियाँ तथा ढोर चरानेवाले ग्वाले आदि मूढ़जन भी भ्रान्त नहीं हो सकते। वे बाह्यसत्य पदार्थोंको प्राप्तकर अपनी आकांक्षाएँ शान्त कर सन्तोषका अनुभव करते हैं जब कि इन्द्रजालदृष्ट पदार्थोंसे कोई अर्थकिया या सन्तोषानुभव नहीं होता। वे तो प्रतिभासकालमें ही असत् मालूम होते हैं। अद्वयज्ञानवादियोंको प्रतिभासकी सामग्री—प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि तो मानना ही चाहिए, अन्यथा प्रतिभास कैसे हो सकेगा ? अद्वयज्ञानमें अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदिकी व्यवस्था न होनेसे तद्ग्राही ज्ञानोंमें प्रमाणता या अप्रमाणता भी निश्चित नहीं की जा सकेगी। पर्वतादि बाह्य पदार्थोंको विकल्पवासनाप्रसूत कहनेसे उनमें मूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिघत्व आदि धर्म कैसे संभव हो सकते हैं ? यदि विषादि पदार्थ बाह्यसत् नहीं हैं केवल ज्ञानरूप ही हैं; तब उनके खानेसे मृत्यु आदि कैसे हो जाते हैं ? विषके ज्ञानमात्रसे तो मृत्यु नहीं देखी जाती। प्रतिपाद्यरूप आत्मान्तरकी सत्ता माने बिना शास्त्रोपदेश आदिका क्या उपयोग होगा ? जब परप्रतिपत्तिके उपायभूत वचन ही नहीं हैं; तब परप्रतिपादन कैसे संभव है ? इसी तरह ग्राह्य-ग्राहकभाव, बाध्य-बाधकभाव आदि अद्वैतके बाधक हैं। अद्वयसिद्धिके लिए साध्य-साधनभाव तो आपको मानना ही चाहिए; अन्यथा सहोप-

लम्बनियम आदि हेतुओंसे अद्वयसिद्धि कैसे करोगे ? सहोपलम्बनियम—अर्थ और ज्ञान दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं अतः अर्थ और ज्ञान अभिन्न हैं, जैसे द्विचन्द्रज्ञानमें प्रतिभासित होनेवाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नहीं रखते, किन्तु एक ही हैं। यह अनुमान भी संवेदनाद्वैतकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है। यतः सहोपलम्ब हेतु विरुद्ध है—‘शिष्यके साथ गुरु आया’ इस प्रयोगमें सहोपलम्बनियम भेद होनेपर ही देखा गया है। ज्ञान अन्तरंगमें चेतनाकारतया तथा अर्थ बाह्य देशमें जडरूपसे देखा जाता है अतः उनका सहोपलम्बनियम असिद्ध है। बाह्यसत् एकचन्द्रके स्वीकार किए बिना द्विचन्द्र दृष्टान्त भी नहीं बन सकता। सहोपलम्बनियमका भेदके साथ कोई विरोध नहीं होनेके कारण वह अनैकान्तिक भी है।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थके अस्तित्वमें निम्न बाधक उपस्थित करते हैं कि—एक परमाणु अन्य-परमाणुओंसे एकदेशसे संयोग करेगा, या सर्वात्मना ? एकदेशसे संयोग माननेपर छह परमाणुओंसे संयोग करनेवाले परमाणुके छह देश हो जायेंगे। सर्वात्मना संयोग माननेपर परमाणुओंका पिण्ड एकपरमाणुरूप हो जायगा। इसी तरह अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहेगा, या सर्वात्मना ? एकदेशसे रहनेपर अवयवीके उतने ही देश मानने होंगे जितने कि अवयव हैं। सर्वात्मना प्रत्येक अवयवमें रहनेपर जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जायेंगे। अवयवी यदि निरंश है, तो रक्ताक्त, चलाचल आदि विरुद्धधर्मोंका अभ्यास होनेसे उसमें भेद ही जायगा। इत्यादि।

अकलंकदेवने इनका समाधान संक्षेपमें यह किया है कि—जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य, ग्राहक और संविदाकारसे तादात्म्य रखकर भी एक रहता है, उसी तरह अवयवी अपने अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्धसे रहनेपर भी एक ही रहेगा। अवयवोंसे सर्वथा भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते। परमाणुओंमें परस्पर स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध होता है जिससे स्कन्ध बनता है। अतः ज्ञानके अतिरिक्त बाह्यपदार्थकी सत्ता मानना ही चाहिए; क्योंकि संसारके समस्त व्यवहार बाह्यसत् पदार्थोंसे चलते हैं, केवल ज्ञानमात्रसे नहीं।

परमाणुसंचयवाद निरास—सौत्रान्तिक ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्यार्थ मानते हैं, पर वे बाह्यार्थको स्थिर, स्थूलरूप नहीं मानकर क्षणिक परमाणुरूप मानते हैं। परमाणुओंका पुंज ही अत्यन्त आसन्न होनेके कारण स्थूलरूपसे मालूम होता है। जैसे पृथक् स्थित अनेक वृक्ष दूरसे एक स्थूलरूपमें प्रतिभासित होते हैं। अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है और वह अपने परमाणुत्वको छोड़कर स्कन्ध अवस्थामें नहीं आता तब उनका समुदाय प्रत्यक्षका विषय कैसे हो सकेगा ? अतीन्द्रिय वस्तुओंका समुदाय भी अपनी अतीन्द्रियता-सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण किए बिना इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता।

भिन्नअवयवविवाद निरास—नैयायिक अवयवीको अवयवोंसे भिन्न मानकर भी उसकी अवयवोंमें समवायसम्बन्धसे वृत्ति मानते हैं। वे अवयवीको निरंश एवं नित्य स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—अवयवोंसे भिन्न कोई अवयवी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं होता। ‘वृक्षमें शाखाएँ हैं’ यह प्रतिभास तो होता है पर ‘शाखाओंमें वृक्ष है’ यह एक निराली हो कल्पना है। यदि अवयवी अतिरिक्त हो; तो एक-एक छटाक वजनवाले चार अवयवोंसे बने हुए स्कन्धमें अवयवोंके चार छटाक वजनके अतिरिक्त कुछ अवयवीका भी वजन आना चाहिये। अवयव तथा अवयवीका रूप भी पृथक्-पृथक् दिखना चाहिए। निरंश अवयवीके एक देशको रँगनेपर पूरा अवयवी रँगा जाना चाहिए। उसके एक देशमें क्रिया होनेपर समस्त अवयवीमें क्रिया होना चाहिये। उसके एक देशका आवरण होनेपर पूरे अवयवीको आवृत हो जाना

५४ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

चाहिए। इस तरह विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होनेसे उसमें एकत्व नहीं रह सकता। अतः अवयवोंसे सर्वथा भिन्न अवयवी किसी भी तरह प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता। इसलिये प्रतीतिके अनुसार अवयवोंसे कथञ्चिद्भिन्न—अवयवरूप ही अवयवी मानना चाहिए।

इस तरह गुण-पर्यायवाला, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय होता है। गुण सह-भावी तथा पर्यायै क्रमभावी होते हैं। जैसे भेदज्ञानसे वस्तुके उत्पाद और व्ययकी प्रतीति होती है उसी तरह अभेदज्ञानसे स्थिति भी प्रतिभासित होती ही है। जिस प्रकार सर्प अपनी सीधी, टेड़ी, उत्फण, विफण आदि अवस्थाओंमें अनुस्यूत एक सत् है उसी तरह उत्पन्न और विलीन होनेवाली पर्यायोंमें द्रव्य अनुगत रहता है। अभिन्न प्रतिभास होनेसे वस्तु एक है। विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होनेसे अनेक है। वस्तु अमुक स्थूल अंशसे प्रत्यक्ष होनेपर भी अपनी सूक्ष्मपर्यायोंकी अपेक्षासे अप्रत्यक्ष रहती है। वस्तु के ध्रौव्य अंशके कारण ही 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। उपादानोपादेयभाव भी ध्रौव्यांशके माननेपर ही बन सकता है। वस्तु जिस रूपसे उत्तरपर्यायमें अन्वित होगी उसी रूपसे उसमें उपादानताका निश्चय होता है। यद्यपि शब्दादिका उपादान तथा आगे होनेवाला उपादेयभूत कार्य प्रत्यक्षगोचर नहीं है, तथापि उसकी मध्यक्षणवर्ती सत्ता ही उसके उपादानका तथा आगे होनेवाले उपादेयरूप कार्यका अनुमान कराती है; क्योंकि उपादानके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा मध्यक्षण यदि आगे कोई कार्य न करेगा; तो वह अर्थक्रियाकारित्वके अभावमें अवस्तु ही हो जायगा। अतः द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाणका विषय हो सकती है।

सामान्य—नैयायिक-वैशेषिक नित्य, एक, सर्वगत सामान्य मानते हैं, जो स्वतन्त्र पदार्थ होकर भी द्रव्य, गुण और कर्ममें समवायसम्बन्धसे रहता है। मीमांसक ऐसे ही सामान्यका व्यक्तिसे तादात्म्य मानते हैं। बौद्ध सामान्यको वस्तुभूत न मानकर उसे अतद्व्यावृत्ति या अन्यापोहरूप स्वीकार करते हैं। जैन सदृश परिणमनको सामान्य कहते हैं। वे उसे अनेकानुगत न कहकर व्यक्तिस्वरूप मानते हैं। वह व्यक्तिकी तरह अनित्य तथा असर्वगत है। अकलंकदेवने सामान्यका स्वरूप वर्णन करते हुए इतर मतोंकी आलोचना इस प्रकार की है—

नित्य-सामान्यनिरास—नित्य, एक, निरंश सामान्य यदि सर्वगत है; तो उसे प्रत्येक व्यक्तिमें खंडशः रहना होगा; क्योंकि एक ही वस्तु अनेक जगह युगपत् सर्वात्मना नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्तिमें प्रकट होता है; उसी समय उसे सर्वत्र-व्यक्तिके अन्तरालमें भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा व्यक्त और अव्यक्तरूपसे स्वरूपभेद होनेपर अनित्यत्व एवं सांशत्वका प्रसंग होगा। जिस तरह सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न सत्ताके समवायके बिना भी स्वतः सत् है उसी तरह द्रव्य, गुण और कर्म भी स्वतः सत् होकर 'सत् सत्' ऐसा अनुगत व्यवहार भी करा सकते हैं। अतः द्रव्यादिके स्वरूपसे अतिरिक्त सामान्य न मानकर सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए।

अन्यापोह निरास—बौद्ध सामान्यको अन्यापोहरूप मानते हैं। इनके मतसे कोई भी एक वस्तु अनेक आधारोंमें वृत्ति ही नहीं रख सकती, अतः अनेक आधारोंमें वृत्ति रखनेवाला सामान्य असत् है। सामान्य अनुगत व्यवहारके लिए माना जाता है। उनका कहना है कि—हमलोगोंको परस्पर विभिन्न वस्तुओंके देखनेके बाद जो बुद्धिमें अभेदका भान होता है, उसी बुद्धिमें प्रतिबिम्बित अभेदका नाम सामान्य है। यह बुद्धिप्रतिबिम्बित अभेद भी कोई विध्यात्मक धर्म नहीं है, किन्तु अतद्व्यावृत्तिरूप है। जिन व्यक्तियोंमें अमनुष्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें 'मनुष्य मनुष्य' व्यवहार किया जाता है। जैसे चक्षु, आलोक और रूप आदि पदार्थ परस्परमें अत्यन्त भिन्न होकर भी अरूपज्ञानजननव्यावृत्ति होनेके कारण रूपज्ञानजनकरूपसे

समान व्यवहारमें कारण हो जाते हैं, उसी तरह परस्परमें अत्यन्त भिन्न मनुष्यव्यक्तियाँ भी अमनुष्यव्यावृत्तिके कारण 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा समान व्यवहार कर सकेंगी। इसी तरह अतत्कार्य-कारणव्यावृत्तिसे अनुगत व्यवहार होता है। प्रकृत मनुष्यव्यक्तियाँ मनुष्यके कारणोंसे उत्पन्न हुई हैं तथा मनुष्यके कार्योंको करती हैं, अतः उनमें अमनुष्यकारणव्यावृत्ति तथा अमनुष्यकार्यव्यावृत्ति पाई जाती है, इसीसे उनमें किसी वस्तुभूत सामान्यके बिना भी सदृश व्यवहार हो जाता है।

अकलंकदेव इसका खंडन करते हैं कि—सदृशपरिणामरूप विध्यात्मक सामान्यके माने बिना अपोहका नियम ही नहीं हो सकता। जब एक शाबलेय गौव्यक्ति दूसरी बाहुलेय गौव्यक्ति से उतनी ही भिन्न है जितनी कि एक अश्वव्यक्तिसे, तब क्या कारण है कि अगोव्यावृत्ति शाबलेय और बाहुलेयमें ही 'गौ गौ' ऐसा अनुगत व्यवहार करती है अश्व में नहीं? अतः यह मानना होगा कि शाबलेय गौ बाहुलेय गौसे उतनी भिन्न नहीं है जितनी अश्वसे, अर्थात् शाबलेय और बाहुलेयमें कोई ऐसा सादृश्य है जो अश्वमें नहीं पाया जाता। इसलिए सदृश परिणाम ही समान व्यवहारका नियामक हो सकता है। यह तो हम प्रत्यक्षसे ही देखते हैं कि—कोई वस्तु किसीसे समान है तथा किसीसे विलक्षण। बुद्धि समानधर्मोंकी अपेक्षासे अनुगत व्यवहार कराती है, तथा विलक्षण धर्मोंकी अपेक्षासे विसदृश व्यवहार। पर वह समानधर्म विध्यात्मक है निषेधात्मक नहीं। बौद्ध जब स्वयं अपरापरक्षणोंमें सादृश्यके कारण ही एकत्वका भान मानते हैं, शक्तिका और चाँदीमें सादृश्यके कारण ही भ्रमोत्पत्ति स्वीकार करते हैं; तब अनुगत व्यवहारके लिए अतद्व्यावृत्ति जैसी निषेधमुखी कल्पनासे क्या लाभ? क्योंकि उसका निर्वाह भी आखिर सदृश-परिणामके ही आधीन आ पड़ता है। बुद्धिमें अभेदका प्रतिबिम्ब वस्तुगत सदृश धर्मके माने बिना यथार्थता नहीं पा सकता। अतः सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। इस तरह अकलंकदेवने सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्य, एकद्रव्यरूप ऊर्ध्वतासामान्य, भिन्नद्रव्योंमें विलक्षण व्यवहारका प्रयोजक विशेष और एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें भेद व्यवहार करानेवाले पर्याय इन द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष चार पदोंका उपादान करके प्रमाणके विषयभूत पदार्थकी सम्पूर्णताका प्रतिपादन किया है।

भूतचैतन्यवाद निराम—चार्वाकका सिद्धान्त है कि—जीव कोई स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व नहीं है किन्तु पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके अमुक प्रमाणमें विलक्षण रासायनिक मिश्रणसे ही उन्हीं पृथिव्यादिमें चैतन्यशक्ति आविर्भूत हो जाती है। इसी ज्ञानशक्तिविशिष्ट भूत-शरीरमें जीव व्यवहार होता है। जिस प्रकार कोदों, महुआ आदिमें जलादिका मिश्रण होनेसे मदिरा तैयार हो जाती है उसी तरह जीव एक रासायनिक मिश्रणसे बना हुआ संयुक्त-द्रव्य है स्वतन्त्र अखण्ड मूल-द्रव्य नहीं है। उस मिश्रणमेंसे अमुक तत्त्वोंकी कमी होनेपर जीवनीशक्तिके नष्ट होनेपर मृत्यु हो जाती है। अतः जीव गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त ही रहता है, परलोक तक जानेवाला नहीं है। उसको शरीरके साथ ही साथ क्या शरीरके पहिले ही इतिश्री हो जाती है, शरीर तो मृत्युके बाद भी पड़ा रहता है। 'जलबुद्बुदवज्जीवाः, मदशक्तिवद्विज्ञानम्'—जलके बुद्बुदोंकी तरह जीव तथा महुआ आदिमें मादकशक्तिकी तरह ज्ञान उत्पन्न होता है—ये उनके मूल सिद्धान्तसूत्र हैं।

अकलंकदेव इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—यदि आत्मा-जीव स्वतन्त्र मूल-तत्त्व न हो तो संसार और मोक्ष किसे होगा? शरीरावस्थाको प्राप्त पृथिव्यादि भूत तो इस लोकमें ही भस्मीभूत हो जाते हैं, परलोक तक कौन जायगा? परलोकका अभाव तो नहीं किया जा सकता; क्योंकि आज भी बहुत लोग जातिस्मरण होनेसे अपने पूर्वभवकी तथ्यस्थितिका आँखोंदेखा हाल वर्णन करते हुए देखे जाते हैं। यक्ष, राक्षस, भूत पिशाचादि पर्यायोंमें पहुँचे हुए व्यक्ति अपनी वर्तमान तथा अतीतकालीन पूर्वपर्यायका समस्त

वृत्तान्त सुनाते हैं। जन्म लेते ही नवजातशिशुको माँके दूध पीनेकी अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा पूर्वानुभावके बिना नहीं हो सकती; क्योंकि अभिलाषा पूर्वदृष्ट पदार्थकी सुखसाधनताका स्मरण करके होती है। अतः पूर्वानुभवका स्थान परलोक मानना चाहिये। 'गर्भमें माँके द्वारा उपभुक्त भोजनादिसे बने हुए अमुक विलक्षण रसविशेषके ग्रहण करनेसे नवजातशिशुको जन्म लेते ही दुग्धपानकी ओर प्रवृत्ति होती है' यह कल्पना नितान्त युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि गर्भमें रसविशेषके ग्रहण करनेसे ही यदि अभिलाषा होती है तो गर्भमें एक माथ रहनेवाले, एक साथ ही रसविशेषको ग्रहण करनेवाले युगल पुत्रोंमें परस्पर प्रत्यभिज्ञान एवं अभिलाषा होनी चाहिए, एकके द्वारा अनुभूत वस्तुका दूसरेको स्मरण होना चाहिए। प्रत्येक पृथिवी आदि भूतमें तो चैतन्यशक्तिका आविर्भाव नहीं देखा जाता अतः समस्तभूतोंके अमुक मिश्रणमें ही जब एक विलक्षण अतीन्द्रिय स्वभावसिद्ध शक्ति माननी पड़ती है तब ऐसे विलक्षणशक्तिशाली अतीन्द्रिय आत्मतत्त्वके माननेमें ही क्या बाधा है? ज्ञान प्राणयुक्त शरीरका भी धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि अन्धकारमें शरीरका प्रत्यक्ष न होनेपर भी 'अहं ज्ञानवान्' इस प्रकारसे ज्ञानका अन्तः मानसप्रत्यक्ष होता है। यदि ज्ञानरूपसे शरीरका ग्रहण होता; तो कदाचित् ज्ञान शरीरका धर्म माना जाता। दूसरा व्यक्ति अपने नेत्रोंसे हमारे शरीरका ज्ञान कर लेता है पर शरीरके रूपादिकी तरह वह हमारे ज्ञानका ज्ञान नहीं कर सकता। शरीरमें विकार होनेपर भी बुद्धिमें विकार नहीं देखा जाता, शरीरकी पुष्टि या कमजोरीमें ज्ञानकी पुष्टि या कमजोरी नहीं देखी जाती, शरीरके अतिशय बलवान् होनेके साथ ही साथ बुद्धिबल बढ़ता हुआ नहीं देखा जाता, इत्यादि कारणोंसे यह सुनिश्चित है कि—ज्ञान शरीरका गुण नहीं है। ज्ञान, सुख आदि इन्द्रियोंके भी धर्म नहीं हो सकते; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियोंकी अनुपयुक्त दशामें मनसे ही 'मैं सुखी हूँ' मैं 'दुःखी हूँ' यह मानस प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। चक्षुरादि इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट हो जानेपर भी मानस स्मरणज्ञान देखा जाता है। अतः जीवनशक्ति या ज्ञानशक्ति भूतोंका गुण या पर्याय नहीं हो सकती, वह तो आत्माकी ही पर्याय है। यह जीव ज्ञान-दर्शनादि उपयोगवाला है। सुषुप्तादि अवस्थाओंमें भी इसका ज्ञान नष्ट नहीं होता। अकलंकदेवने 'सुषुप्तादी बुद्धः' इस पदका उपादान करके प्रज्ञाकरगुप्त आदिके 'सुषुप्तावस्थामें ज्ञान नष्ट या तिरोहित हो जाता है' इस सिद्धान्तका खंडन किया है। यह आत्मा प्राणादिको धारण करके जीता है इसलिए जीव कहलाता है। जीव स्वयं अपने कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता है। वही रागादिभावोंसे कर्मबन्धन करता है तथा वीतराग-परिणामोंसे कर्मबन्धन तोड़कर मुक्त हो जाता है। यह न तो सर्वव्यापी है और न बटबीजकी तरह अणुरूप ही; किन्तु अपने उपात्तशरीरके परिमाणानुसार मध्यम-परिमाणवाला है। कर्मसम्बन्धके कारण प्रदेशोंके संकोच-विस्तार होनेसे छोटे-बड़े शरीरके परिमाण होता रहता है।

गुण—इसी प्रसंगमें गुण और गुणीके सर्वथा भेदका खण्डन करते हुए लिखा कि—अर्थ अनेकधर्मात्मक है। उसका अखण्डरूपसे ग्रहण करना कदाचित् संभव है, पर कथन या व्यवहार तो उसके किसी खास रूप-धर्मसे ही होता है। इसी व्यवहारार्थ भेदरूपसे विवक्षित धर्मको गुण कहते हैं। गुण द्रव्यका ही परिणमन है, वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। चूँकि गुण पदार्थके धर्म हैं अतः ये स्वयं निर्गुण-गुणशून्य होते हैं। यदि गुण स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय और वह भी द्रव्यसे सर्वथा भिन्न; तो 'अमुकगुण-ज्ञान अमुकगुणी-आत्मामें ही रहता है पृथिव्यादिमें नहीं' इसका नियामक कौन होगा? इसका नियामक तो यही है कि—ज्ञानका आत्मासे ही कथंचित्तादात्म्य है अतः वह आत्मामें ही रहता है पृथिव्यादिमें नहीं। वैशेषिकके मतमें 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग नहीं हो सकेंगे; क्योंकि गन्ध, रूप तथा संख्या आदि सभी गुण हैं, और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। यदि आश्रयभूत द्रव्यकी संख्याका एकार्थसमवाय सम्बन्धके कारण रूपादिमें उपचार करके 'एक गन्ध'

इस प्रयोगका निर्वाह किया जायगा; 'तो एक द्रव्यमें रूपादि बहुत गुण हैं' यह प्रयोग असंभव हो जायगा; क्योंकि रूपादि बहुत गुणोंके आश्रयभूत द्रव्यमें तो एकत्वसंख्या है बहुत्वसंख्या नहीं। अतः गुणको स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर द्रव्यका ही धर्म मानना चाहिए। धर्म अपने आश्रयभूत धर्मोंकी अपेक्षासे धर्म होनेपर भी अपनेमें रहनेवाले अन्य धर्मोंकी अपेक्षासे धर्म भी हो जाता है। जैसे रूपगुण आश्रयभूत घटकी अपेक्षासे यद्यपि धर्म है पर अपनेमें पाये जानेवाले एकत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मोंकी अपेक्षा धर्म है। अतः जैन सिद्धान्तमें धर्म-धर्मिभावके अनियत होनेके कारण 'एक गन्ध दो रूप' आदि प्रयोग बड़ी आसानीसे बच जाते हैं। इति।

३. नयनिरूपण

जैनदृष्टिका आधार और स्थान—भारतीय संस्कृति मुख्यतः दो भागों में बाँटी जा सकती है—एक वैदिक संस्कृति और दूसरी उसके मुकाबिलेमें खड़ी हुई श्रमणसंस्कृति। वैदिकसंस्कृतिके आधारभूत वेदको प्रमाण माननेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा तथा औपनिषद आदि दर्शन हैं। श्रमणसंस्कृतिके शिलाधार वेदको प्रमाणताका विरोध करनेवाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं। वैदिकदर्शन तथा वैदिकसंस्कृतिके प्राणप्रतिष्ठानमें विचारोंकी प्रधानता है। श्रमणसंस्कृति एवं अवैदिक दर्शनोंकी उद्भूति आचारशोधनके प्रामुख्यसे हुई है। सभी दर्शनोंका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, और गौण या मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञानको मोक्षका साधन भी सबने माना ही है। वैदिक संस्कृति तथा वैदिकदर्शनोंकी प्राणप्रतिष्ठा, संवर्द्धन एवं प्रौढ़ीकरणमें बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्गने पुस्तैनी प्रयत्न किया है जो आजतक न्यूनाधिक रूपमें चालू है। यही कारण है कि वैदिकदर्शनका कोषागार, उनकी सूक्ष्मता, तलस्पर्शिता, भावग्राहिता एवं पराकाष्ठाको प्राप्त कल्पनाओंका कोटिक्रम अपनी सानी कम रखता है। परम्परागत-बुद्धिजीवित्वशाली ब्राह्मणवर्गने अपनी सारी शक्ति कल्पना-जालका विकास करके वेदप्रामाण्यके समर्थन में लगाई और वैदिकक्रियाकाण्डोंके द्वारा गर्भसे लेकर मरण पर्यन्तके जीवनके प्रत्येकक्षणको इतना ओतप्रोत कर दिया जिससे मुकाबिलेमें खड़ी होनेवाली बौद्ध और जैनसंस्कृति भी पीछे जाकर इन क्रियाकाण्डोंसे अंशतः पराभूत हो गई।

श्रमणसंस्कृति वैदिक क्रियाकाण्ड, खासकर धर्मके नामपर होनेवाले अजामेध, अश्वमेध, नरमेध आदि हिंसाकाण्डका तात्त्विक एवं क्रियात्मक विरोध करनेके लिए उद्भूत हुई, और उसने इस क्षेत्रमें पर्याप्त सफलता भी पाई। श्रमणसंस्कृतिका आधार पूर्णरूपसे अहिंसा रही है। अहिंसाका वास्तविक रूप तो सचमुच आचारगत ही है। अहिंसाका विचार तो वैदिकदर्शनोंने भी काफी किया है पर विशिष्ट अपवादोंके साथ। श्रमणसंस्कृति अहिंसाका सक्रिय रूप थी। इस अहिंसाकी साधना तथा पूर्णताके लिए ही इसमें तत्त्वज्ञानका उपयोग हुआ, जब कि वैदिक संस्कृतिमें तत्त्वज्ञान साध्यरूपमें रहा है।

बौद्धदृष्टि—बुद्ध अहिंसाकी साधनाके लिए प्रारम्भमें छह वर्ष तक कठोर तपस्या करते हैं। जब उनका भावुक चित्त तपस्याकी उग्रतासे ऊब जाता है, तब वे विचार करते हैं कि—इतनी दीर्घतपस्याके बाद भी मुझे बोधिलाभ क्यों नहीं हुआ ? यहीं उनकी तीक्ष्णदृष्टि 'मध्यम प्रतिपदा' को पकड़ लेती है। वे निश्चय करते हैं कि—यदि एक ओर वैदिक हिंसा तथा विषय भोग आदिके द्वारा शरीरके पोषणका बोलबाला है तो इस ओर भी अव्यवहार्य अहिंसा तथा भीषण कायकलेशके द्वारा होनेवाला शरीरका शोषण हृदयकी कोमलभावनाओंके स्रोतको ही बन्द किए देता है। अतः इन दोनोंके मध्यका ही मार्ग सर्वसाधारणको व्यवहार्य हो सकता है। आन्तरिक शुद्धिके लिए ही बाह्य उग्रतपस्याका उपयोग होना चाहिए, जिससे बाह्यतप ही हमारा साध्य न बन जाय। दयालु बुद्ध इस मध्यममार्ग द्वारा अपने आचारको मुदु बनाते हैं और बोधिलाभ कर जगत्में मुदु-अहिंसाका सन्देश फैलाते हैं। तात्पर्य यह कि—बुद्धने अपने आचारकी मुदुता-

के समाधानके लिए 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग किया। इस तत्त्वका उपयोग बुद्धने आखिर तक आचारके ही क्षेत्र तक सीमित रखा, उसे विचारके क्षेत्रमें दाखिल करनेका प्रयत्न नहीं हुआ। जब बोधिलाभ करनेके बाद संघरचनाका प्रश्न आया, शिष्यपरिवार दीक्षित होने लगा तथा उपदेशपरम्परा चालू हुई, तब भी बुद्धने किसी आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थका तात्त्विक विवेचन नहीं किया; किन्तु अपने द्वारा अनुभूत दुःखनिवृत्तिके मार्गका ही उपदेश दिया। जब कोई शिष्य उनसे आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थके विषयमें प्रश्न करता था तो वे स्पष्ट कह देते थे कि—“आवुस ! तुम इन आत्मा आदिको जानकर क्या करोगे ? इनके जाननेसे कोई फायदा नहीं है। तुम्हें तो दुःखसे छूटना है, अतः दुःख, समुदय—दुःखके कारण, निरोध-दुःखनिवृत्ति और मार्ग—दुःखनिवृत्तिको उपाय इन चार आर्यसत्त्वोंको जानना चाहिए तथा आचरण कर बोधिलाभ करना चाहिए।” उन्हें बुद्धिजीवी ब्राह्मण वर्गकी तरह बैठेठाले अनन्त कल्पनाजाल रचके दर्शनशास्त्र बनानेके बजाय अहिंसाकी आंशिक साधना ही श्रेयस्कर मालूम होती थी। यही कारण है कि—वे दर्शनशास्त्रीय आत्मादि पदार्थोंके तत्त्वविवेचनके झगड़ेको निरुपयोगी समझकर उसमें नहीं पड़े। और उन्होंने अपनी मध्यम-प्रतिपदाका उपयोग उस समयके प्रचलितवादोंके समन्वयमें नहीं किया। उस समय आत्मादि पदार्थोंके विषयमें अनेकों वाद प्रचलित थे। कोई उसे कूटस्थ नित्य मानता था तो कोई उसे भूतविकारमात्र, कोई व्यापक कहता था तो कोई अणुरूप। पर बुद्ध इन सब वादोंके खंडन-मंडनसे कोई सरोकार ही न रखते थे, वे तो केवल अहिंसाकी साधनाकी ही रट लगाए हुए थे।

पर जब कोई शिष्य अपने आचरण तथा संघके नियमोंमें मृदुता लानेके लिए उनके सामने अपनी कठिनाइयाँ पेश करता था कि—“भन्ते ! आजकल वर्षाकाल है, एक संघाटक-चीवर रखनेसे तो वह पानीमें भोग जाता है, और उससे शीतकी बाधा होती है। अतः दो चीवर रखनेकी अनुज्ञा दी जाय। हमें बाहिर स्नान करते हुए लोक-लाजका अनुभव होता है, अतः जन्ताघर (स्नानगृह) बनानेकी अनुज्ञा दी जाय इत्यादि” तब बुद्धका मातृहृदय अपने प्यारे बच्चोंकी कठिनाइयाँ सुनकर तुरन्त पसीज जाता था। वे यहाँ अपनी 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग करते हैं और उनकी कठिनाइयाँ हल करनेके लिए उन्हें अनुज्ञा दे देते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि—बुद्धकी मध्यमप्रतिपदा केवल आचारकी समाधानीके लिए उपयुक्त होती थी, वह आचारका व्यवहारसे व्यवहार्य मार्ग ढूँढ़ती थी। उसने विचारके अपरिमित क्षेत्रमें अपना कार्य बहुत कम किया।

जब बुद्धने स्वयं 'मध्यमप्रतिपदा' विचारके क्षेत्रोंमें दाखिल नहीं किया तब उत्तरकालीन बौद्धाचार्योंसे तो इसकी आशा ही नहीं की जा सकती थी। बुद्धके उपदेशोंमें आए हुए क्षणिक, निरात्मक, विभ्रम, परमाणुपुञ्ज, विज्ञान, शून्य आदि एक-एक शब्दको लेकर उत्तरकालीन बौद्धाचार्योंने अनन्त कल्पनाजालसे क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, विभ्रमवाद, विज्ञानवान, शून्यवाद आदि वादोंको जन्म देकर दर्शनक्षेत्रमें बड़ा भारी तूफान मचा दिया। यह तूफान मामूली नहीं था, इससे वैदिक दर्शनोंकी चिरकालीन परम्परा काँप उठी थी। बुद्धने तो मार-काम विजयके लिए, विषय-कषायोंको शान्तकर चित्त शोधनके लिए जगत्को जलबुद्बुदकी तरह क्षणिक-विनाशशील कहा था। निरात्मक शब्दका प्रयोग तो इसलिए था कि—‘यह जगत् आत्मस्वरूपसे भिन्न है, नित्य कूटस्थ कोई आत्मा नहीं है जिसमें राग किया जाय, जगत्में आत्माका हितकारक कुछ नहीं है’ आदि समझकर जगत्से विरक्ति हो। संसारको स्वप्नकी तरह विभ्रम एवं शून्य भी इसीलिए कहा था कि—उससे चित्तको हटाकर चित्तको विशुद्ध किया जाय। स्त्री आदि रागके साधन पदार्थोंको एक, नित्य, स्थूल, अमुक संस्थानवाली, वस्तु समझकर उसके मुख आदि अवयवोंका दर्शन-स्पर्शनकर रागद्वेषादि की अमरबेल फूलती है। यदि उन्हें स्थूल अवयवी न समझकर परमाणुओंका पुंज ही समझा जायगा तो जैसे

मिट्टीके ढेलेमें हमें राग नहीं होता उसी तरह स्त्री आदिसे विरक्त होनेमें चित्तको मदद मिलेगी। इन्हीं पवित्र मुमुक्षुभावनाओंको सुभावित करनेके लिए कृष्णामय बुद्धके हृदयग्राही उपदेश होते थे। उत्तरकालमें इन मुमुक्षुभावनाओंका लक्ष्य यद्यपि वही रहा पर समर्थनका ढंग बदला। उसमें परपक्षका जोरोसे खंडन शुरू हुआ तथा बुद्धिकल्पित विकल्पजालोंसे बहुविध पन्थों और ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इन बुद्धिवाग्वैभवशाली आचार्योंने बुद्धकी उस मध्यमप्रतिपदाका इस नए क्षेत्रमें जरा भी उपयोग नहीं किया। मध्यमप्रतिपदा शब्दका अपने ढंगसे शाब्दिक आदर तो किया पर उसके प्राणभूत समन्वयके तत्त्वका बुरी तरह कचूर निकाल डाला। विज्ञानवादियोंने मध्यमप्रतिपदाको विज्ञानस्वरूप कहा तो विभ्रमवादियोंने उसे विभ्रमरूप। शून्यवादियोंने तो मध्यमप्रतिपदाको शून्यताका पर्यायवाची ही लिख दिया है—

“मध्यमा प्रतिपत् सैव सर्वधर्मनिरात्मता। भूतकोटिश्च सैवेयं तथता सर्वशून्यता।”

—अर्थात् सर्वशून्यताको ही सर्वधर्मनैरात्म्य तथा मध्यमा प्रतिपत् कहते हैं। यही वास्तविक तथा तथ्यरूप है।

इन अहिंसाके पुजारियोंने मध्यमप्रतिपदाके द्वारा वैदिक संस्कृतिका समन्वय न करके उसपर ऐकान्तिक प्रहार कर पारस्परिक मनोमालिन्य-हिंसाको ही उत्तेजन दिया। इससे वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृतिके बीच एक ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी हो गई जिसने केवल दार्शनिक क्षेत्रमें ही नहीं किन्तु राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रमें भी दोनोंको सदाके लिए आत्यन्तिक विभक्त कर दिया। इसके फलस्वरूप प्राणोंकी बाजी लगाकर अनेकों शास्त्रार्थ हुए तथा राजनैतिक जीवनमें इस कालकूटने प्रवेशकर अनेकों राजवंशोंका सत्यानाश किया। उत्तरकालमें बौद्धाचार्योंने मन्त्र-तन्त्रोंकी साधना इसी हिंसाके उत्तेजनके लिए की और आखिर इसी हिंसाज्वालासे भारतवर्षमें बौद्धोंका अस्तित्व खाकमें मिल गया। यदि मध्यमा प्रतिपदने इस दार्शनिक क्षेत्रमें भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया होता तो आज उसकी अहिंसक किरणोंसे दर्शनशास्त्रका कुछ दूसरा ही रूप हुआ होता, और भारतवर्षका मध्यकालीन इतिहास सचमुच स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाने लायक होता।

जैनदृष्टि—भगवान् महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तपःशूर थे। इन्होंने अपनी उग्र तपस्यासे कैवल्य प्राप्त किया। ये इतने दृढ़तपस्वी तथा कष्टसहिष्णु व्यक्ति थे कि इन्हें बुद्धकी तरह अपनी व्यक्तिगत तपस्यामें मृदुता लानेके लिए मध्यममार्गके उपयोगकी आवश्यकता ही नहीं हुई। इनकी साधना कायिक अहिंसाके सूक्ष्मपालनके साथ ही साथ वाचनिक और खासकर मानस अहिंसाकी पूर्णताकी दिशामें थी। भगवान् महावीर पितृचेतस्क व्यक्ति थे, अतः इनका आचारके नियमोंमें अत्यन्त दृढ़ एवं अनुशासनप्रिय होना स्वाभाविक था। पर संघमें तो पंचमेल व्यक्ति दीक्षित होते थे। सभी तो उग्रमार्गके द्वारा साधना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते थे अतः इन्होंने अपनी अनेकान्तदृष्टिसे आचारके दर्जे निश्चित कर चतुर्विधसंघका निर्माण किया। और प्रत्येक कक्षाके योग्य आचारके नियम स्थिरकर उनके पालन करानेमें ढिलाई नहीं की। भग० महावीरकी अनेकान्तदृष्टिने इस तरह आचारके क्षेत्रमें सुदृढ़ संघनिर्माण करके तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया।

अनेकान्तदृष्टिका आधार—भगवान् महावीरने बुद्धकी तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके स्वरूप-निरूपणमें मौन धारण नहीं किया; किन्तु उस समयके प्रचलित वादोंका समन्वय करनेवाला वस्तुस्वरूपस्पर्शी उत्तर दिया कि—आत्मा है भी, नहीं भी, नित्य भी, अनित्य भी, आदि। यह अनेकान्तात्मक वस्तुका कथन

६० : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

उनकी मानसी अहिंसाका प्रतिफल है। अन्यथा वे बुद्धकी तरह इस चर्चाको अनुपयोगी कह सकते थे। कायिक अहिंसाके लिए जिस तरह व्यक्तिगत सम्यगाचार आवश्यक है, उसी तरह वाचनिक और खासकर मानस अहिंसाके लिए अनेकान्तदृष्टि विशेषरूपसे उपासनीय है। जब तक दो विभिन्न विचारोंका अनेकान्तदृष्टिसे वस्तुस्थितिके आधारपर समीकरण न होगा तब तक हृदयमें उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहेगा, और उन विचारोंके प्रयोजकोंके प्रति राग-द्वेषका भाव जाग्रत हुए बिना न रहेगा। इस मानस अहिंसाके बिना केवल बाह्य अहिंसा याचितकमंडनरूप ही है। यह तो और भी कठिन है कि—'किमी वस्तुके विषयमें दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हों, और उनका अपने-अपने ढंगसे समर्थन ही नहीं उसकी सिद्धिके लिए वाद-विवाद भी करते हों, फिर भी वे एक-दूसरेके प्रति समताभाव-मानस अहिंसा रख सकें।' भगवान् महावीरने इसी मानसशुद्धिके लिए, अनिर्वचनीय अखण्ड अनन्तधर्मा वस्तुके एक-एक अंशको ग्रहण करके भी पूर्णताका अभिमान करनेके कारण विरुद्धरूपसे भासमान अनेक दृष्टियोंका समन्वय करनेवाली, विचारोंका वास्तविक समझौता करानेवाली, पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टिको सामने रखा। जिससे एक वादी इतरवादियोंकी दृष्टिका तत्त्व समझकर उसका उचित अंश तक आदर करे, उसके विचारोंके प्रति सहिष्णुताका परिचय दे, और राग-द्वेषविहीन हो शान्त चित्तसे वस्तुके पूर्णस्वरूप तक पहुँचनेकी दिशामें प्रयत्न करे। समाजरचना या संघनिर्माणमें तो इस तत्त्वकी खास आवश्यकता थी। संघमें तो विभिन्न सम्प्रदाय एवं विचारोंके चित्रविचित्र व्यक्ति दीक्षित होते थे। उनका समीकरण इस यथार्थदृष्टिके बिना कर सकना अत्यन्त कठिन था, और समन्वय किए बिना उनके चित्तकी स्थिरता संभव ही नहीं थी। ऊपरी एकीकरणसे तो कभी भी विस्फोट हो सकता था और इस तरह अनेकों संघ छिन्न-भिन्न हुए भी।

अनेकान्तदृष्टिके मूलमें यह तत्त्व है कि—वस्तु स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, अनन्तधर्मोंका एक अखण्ड पिण्ड है। वचन उसके पूर्ण स्वरूपकी ओर इशारा तो कर सकते हैं, पर उसे पूर्णरूपसे कह नहीं सकते। लिहाजा एक ही वस्तुको विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे देखते हैं तथा उनका निरूपण करते हैं। इसलिए यदि विरोध भासित हो सकता है तो एक-एक अंशको ग्रहण करके भी अपनेमें पूर्णताका अभिमान करनेवाली दृष्टियोंमें ही। जब हम एक अंशको जाननेवाली अपनी दृष्टिमें पूर्णताका अभिमान कर बैठेंगे तो सहज ही द्वितीय अंशको जानकर भी पूर्णताभिमानिनी दूसरी दृष्टि उससे टकराएगी। यदि अनेकान्तदृष्टिसे हमें यह मालूम हो जाय कि—ये सब दृष्टियाँ वस्तुके एक-एक धर्मोंको ग्रहण करनेवाली हैं, इनमें पूर्णताका अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः द्वितीय दृष्टिको, जो अभी तक विरुद्ध भासित होती थी, उचित स्थान एवं आदर मिल जायगा। इसीको आचार्योंने शास्त्रीय शब्दोंमें कहा है कि—'एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं है, किन्तु बुद्धिगत है। अतः बुद्धिके शुद्ध होते ही एकान्तका नामोनिशान भी नहीं रहेगा।' इसी समन्वयात्मक दृष्टिसे होनेवाला वचनव्यवहार स्याद्वाद कहलाता है। यह अनेकान्त-ग्राहिणी दृष्टि प्रमाण कही जाती है। जो दृष्टि वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी इतरधर्मग्राहिणी दृष्टियोंका प्रतिक्षेप नहीं करके उन्हें उचित स्थान दे वह नय कहलाती है। इस तरह मानस अहिंसाके कार्य-कारणभूत अनेकान्तदृष्टिके निर्वाह एवं विस्तारके लिए स्याद्वाद, नयवाद, सप्तभंगी आदि विविध रूपोंमें उत्तरकालीन आचार्योंने खूब लिखा। उन्होंने उदारतापूर्वक यहाँ तक लिखा है कि—'समस्त मिथ्यैकान्तोंका समूह ही अनेकान्त है, समस्त पाखण्डोंके समुदाय अनेकान्तकी जय हो।' यद्यपि पातञ्जलदर्शन, भास्करीयवेदान्त, भाट्ट आदि दर्शनोंमें भी इस समन्वयदृष्टिका उपयोग हुआ है; पर स्याद्वादके ऊपर ही संख्यावद्ध शास्त्रोंकी रचना जैनाचार्योंने ही की है। उत्तरकालीन जैनाचार्योंने यद्यपि भगवान् महावीरकी उसी पुनीत अनेकान्तदृष्टिके अनुसार ही शास्वरचना की है; पर वह मध्यस्थभाव अंशतः परपक्षखंडनमें बदल गया। यद्यपि यह आवश्यक था कि—प्रत्येक एकान्तमें

दोष दिखाकर अनेकान्तकी सिद्धि की जाय, फिर भी उसका सूक्ष्म पर्यवेक्षण हमें इस नतीजेपर पहुँचाता है कि भगवान् महावीरकी वह मानस अहिंसा ठीक शत-प्रतिशत उसी रूपमें तो नहीं ही रही ।

विचार विकासकी चरमरेखा—भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें अनेकान्तदृष्टिके आधारसे वस्तुके स्वरूपके प्ररूपक जैनदर्शनको हम विचारविकासकी चरमरेखा कह सकते हैं । चरमरेखासे मेरा तात्पर्य यह है कि—दो विरुद्ध वादोंमें तब तक शुष्कतर्कजन्य कल्पनाओंका विस्तार होता जायगा जब तक कि उनका कोई वस्तु-स्पर्शी हल—समाधान न हो जाय । जब अनेकान्तदृष्टि उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर देगी तब झगड़ा किस और शुष्क तर्कजाल किसलिए ? तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती तब तक विवाद बातका बराबर बढ़ता ही जाता है । जब वह वस्तु अनेकान्तदृष्टिसे अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी तब वादोंका स्रोत अपने आप सूख जायगा ।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश—इसलिए हम अनेकान्तदृष्टिको न्यायाधीशके पदपर अनायास ही बैठा सकते हैं । यह दृष्टि न्यायाधीशकी तरह उभयपक्षको समुचित रूपसे समझकर भी अपक्षपातिनी है । यह मौजूदा यावत् विरोधी वादरूपी मुद्दई मुद्दाहलोंका फैसला करनेवाली है । यह हो सकता है कि—कदाचित् इस दृष्टिके उचित उपयोग न होनेसे किसी फैसलेमें अपीलको अवसर मिल सके । पर इसके समुचित उपयोगसे होनेवाले फैसलेमें अपीलकी कोई गुंजाइश नहीं रहती । उदाहरणार्थ—देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-फुआके भाई हैं । रामचन्द्र देवदत्तका पिता है तथा यज्ञदत्तका मामा । यज्ञदत्त और देवदत्त दोनों ही बड़े बुद्धिशाली लड़के हैं । देवदत्त जब रामचन्द्रको पिता कहता है तब यज्ञदत्त देवदत्तसे लड़ता है और कहता है कि—रामचन्द्र तो मामा है तू उसे पिता क्यों कहता है ? इसी तरह देवदत्त भी यज्ञदत्तसे कहता है कि—वाह ! रामचन्द्र तो पिता है उसे मामा नहीं कह सकते । दोनों शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं । यज्ञदत्त कहता है कि—देखो, रामचन्द्र मामा हैं, क्योंकि वे हमारी माँके भाई हैं, हमारे बड़ेभाई भी उसे मामा ही तो कहते हैं आदि । देवदत्त कहता है—वाह ! रामचन्द्र तो पिता है, क्योंकि उसके भाई हमारे चाचा होते हैं, हमारी माँ उसे स्वामी कहती है आदि । इतना ही नहीं, दोनोंमें इसके फलस्वरूप हाथापाई हो जाती है । एक दूसरेका कट्टर शत्रु बन जाता है । अनेकान्तदृष्टिवाला रामचन्द्र पासके कमरेसे अपने होनहार लड़कोंकी कल्पनाशक्ति एवं बुद्धिपटुतासे प्रसन्न होकर भी उसके फलस्वरूप होनेवाली हिंसा-मारपीटसे खिन्न हो जाता है । वह उन दोनोंकी गलती समझ जाता है और उन्हें बुलाकर धीरेसे समझाता है—बेटा देवदत्त, यह ठीक है कि मैं तुम्हारा पिता हूँ, पर केवल तुम्हारा पिता ही तो नहीं हूँ, इसका मामा भी तो हूँ । इसी तरह यज्ञदत्तको समझाता है कि—बेटा यज्ञदत्त, तुम भी ठीक कहते हो, मैं तुम्हारा तो मामा ही हूँ, पर यज्ञदत्तका पिता भी तो हूँ । यह सुनते ही दोनों भाइयोंकी दृष्टि खुल जाती है । वे झगड़ना छोड़कर आपसमें बड़े हेलमेलसे रहने लगते हैं । इस तरह हम समझ सकते हैं कि—एक-एक धर्मके समर्थनमें वस्त्वंशको लेकर गद्दी गई दलीलें तब तक बराबर चालू रहेंगी और एक-दूसरेका खंडन ही नहीं किन्तु उससे होनेवाले रागद्वेष—हिंसाकी परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्तदृष्टि उनकी चरमरेखा बनाकर समन्वय न कर देगी । इसके बाद तो मस्तिष्कके व्यायामस्वरूप दलीलोंका दलदल अपने आप सूख जायगा ।

प्रत्येक पक्षके वकीलों द्वारा अपने पक्षसमर्थनके लिए सञ्कलित दलीलोंकी फाइलकी तरह न्यायाधीशका फैसला भले ही आकार में बड़ा न हो; पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एवं सूक्ष्मताके साथ ही साथ निष्पक्षपातिता अवश्य ही रहती है । उसी तरह एकान्तके समर्थनमें प्रयुक्त दलीलोंके भण्डारभूत एकान्तवादी दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें कल्पनाओंका चरम विकास न हो और न उसका परिमाण ही

६२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

अधिक हो; पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, तटस्थवृत्ति एवं अहिंसाधारतामें तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। हो सकता है कि उत्तरकालमें मध्यकालीन आचार्यों द्वारा अंशतः परपक्ष खंडनमें पड़नेके कारण उस मध्यस्थताका उसरूपमें निर्वाह न हुआ हो; पर वह दृष्टि उनके पास सदा जाग्रत् रही, और उसीके श्रेयःप्रकाशमें उन्होंने परपक्षको भी नयदृष्टिसे उचित स्थान दिया। जिस तरह न्यायाधीशके फँसलेके उपक्रममें उभयपक्षीय वकीलोंकी दलीलोंके बलाबलकी जाँचमें एक दूसरेकी दलीलोंका यथा-संभव उपयोग होकर अन्तमें उनके निःसार भागकी समालोचनापूर्वक व्यवहार्य फँसला होता है। उसी तरह जैनदर्शनमें एक एकान्तके खण्डनार्थ या उसके बलाबलकी जाँचके लिए द्वितीय एकान्तवादीकी दलीलोंका पर्याप्त उपयोग देखा जाता है। अन्तमें उनकी समालोचना होकर उनका समन्वयात्मक फँसला दिया गया है। एकान्तवादी दर्शनोंके समन्वयात्मक फँसलेकी ये मिसलें ही जैनदर्शनशास्त्र हैं।

बात यह है कि—भगवान् महावीर कार्यशील अहिंसक व्यक्ति थे। वे वादी नहीं थे किन्तु सन्त थे। उन्हें वादकी अपेक्षा कार्य-सदाचरण अधिक पसन्द था, और जब तक हवाई बातोंसे कार्योपयोगी व्यवहार्य मार्ग न निकाला जाय तब तक कार्य होना ही कठिन था। मानस-अहिंसाके संवर्द्धन, परिपोषणके लिए अनेकान्तदृष्टिरूपी संजीवनीकी आवश्यकता थी। वे बुद्धिजीवी या कल्पनालोकमें विचरण करनेवाले नहीं थे। उन्हें तो सर्वाङ्गीण अहिंसाप्रचारका मुलभ रास्ता निकाल कर जगत्को शान्तिका सहज सन्देश देना था। उन्हें मस्तिष्कके शुष्क कल्पनात्मक न्यायामकी अपेक्षा हृदयसे निकली हुई व्यवहार्य अहिंसाकी छोटी-सी आवाज ही अधिक कारगर मालूम होती थी। यह ठीक है कि—बुद्धिजीवीवर्ग जिसका आचरणसे विशिष्ट सम्पर्क न हो, बैठेठाले अनन्तकल्पना जालसे ग्रन्थ गूँथा करे और यही कारण है कि—बुद्धिजीवीवर्ग द्वारा वैदिक दर्शनोंका पर्याप्त प्रसार हुआ। पर कार्यक्षेत्रमें तो केवल कल्पनाओंसे ही निर्वाह नहीं हो सकता था; वहाँ तो व्यवहार्य मार्ग निकाले बिना चारा ही नहीं था। भग० महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शनकी जान कहते हैं, एक वह व्यवहार्यमार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोगसे मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है। इस तरह भग० महावीरकी यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनके भव्य प्रासादका मध्यस्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शनकी प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अतुलसत्यको पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शनने इस अनेकान्तदृष्टिके आधारसे बनी हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्रके कोषागारमें अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकोंने इसी दृष्टिके समर्थन द्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पापप्रकार, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध-वादोंमें पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकोंने अंशतः परपक्षका खण्डन करके भी उसी दृष्टि को, प्रौढ़ किया। इसी दृष्टिके विविध प्रकारसे उपयोगके लिए सतभंगी, नय, निक्षेप आदिका निरूपण हुआ। इस तरह भग० महावीरने अपनी अहिंसाकी पूर्णसाधनाके लिए अनेकान्तदृष्टिका आविर्भाव करके जगत्को वह ध्रुवबीजमन्त्र दिया जिसका समुचित उपयोग संसारको पूर्ण सुख-शान्तिका लाभ करा सकता है।

नय—जब भग० महावीरने मानस अहिंसाकी पूर्णताके लिए अनेकान्तदृष्टिका सिद्धान्त निकाला, तब उसको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए कुछ तफसीली बातें सोचना आवश्यक हो गया कि कैसे इस दृष्टिसे प्रचलित वादोंका उचित समीकरण हो? इस अनेकान्तदृष्टिकी कामयाबीके लिए किए गए मोटे-मोटे नियमोंका नाम नय है। साधारणतया विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—१. ज्ञानाश्रयी, २. अर्थाश्रयी,

३. शब्दाश्रयो । कोई व्यक्ति ज्ञानकी सीमामें ही अपने विचारोंको दौड़ाता है उसे अर्थकी स्थितिकी कोई परवाह ही नहीं रहती । ऐसे मनसूबा बाँधनेवाले, हवाई किले बनानेवाले, शेखचिल्लीकी तरह विचारोंकी धुनमें ही मस्त रहनेवाले लोग अपने विचारोंको ज्ञान ही ज्ञान — कल्पनाक्षेत्रमें ही दौड़ाते रहते हैं । दूसरे प्रकारके लोग अर्थानुसारी विचार करते हैं । अर्थमें एक ओर एक, नित्य और व्यापिरूपसे चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है, तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना । तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियोंके मध्यकी है । पहिली प्रकारकी कोटिमें सर्वथा अभेद-एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायिके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक, निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं । तीसरी कोटिमें पदार्थकी नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं । तीसरे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री, जिन्हें शब्दोंके बालकी खाल खींचनेमें ही मजा आता है । ये लोग एक अर्थकी हर एक हालतमें विभिन्न शब्दके प्रयोगको मानते हैं । इनका तात्पर्य है कि—भिन्नकालवाचक, भिन्न कारकोंमें निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्नपर्यायवाचक, भिन्नक्रियावाचक शब्द एक अर्थको नहीं कह सकते । शब्दभेदसे अर्थ भेद होना ही चाहिए । उपयुक्त ज्ञान, अर्थ और शब्दका आश्रय लेकर होनेवाले विचारोंके समन्वयके लिए किए गए स्थूल मूल नियमोंको नय कहते हैं ।

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहारका संकल्प-विचारमात्रको ग्रहण करनेवाले नैगमनयमें समावेश हुआ । अर्थाश्रित अभेदव्यवहारका, जो “आत्मवेदं सर्वम्, एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्” आदि उपनिषद्वाक्योंसे प्रकट होता है, संग्रहनयमें अन्तर्भाव किया गया । इसके आगे तथा एकपरमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायिके पहिले होनेवाले यावद् मध्यवर्ती भेदोंका जिनमें न्याय वैशेषिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहारनयमें समावेश किया । अर्थकी आखिरी देशकोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणमात्रस्थायिताको ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनयमें शामिल हुई । यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं । अब शब्दशास्त्रियोंका नम्बर आया । काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिकी दृष्टिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, इस कालकारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश हुआ । एक ही साधनमें निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी अर्थभेद माननेवाली समभिरूढनयकी दृष्टि है । एवंभूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामें परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिए । इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं । गुणवाचक शुक्ल शब्द भी शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक चलति शब्द चलने रूप क्रियासे, नामवाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी ‘देवने इसको दिया’ इस क्रियासे निष्पन्न हुए हैं । इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दरूपसे होनेवाले यावद्व्यवहारोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है । पर यह समन्वय एक खास शर्तपर हुआ है । वह शर्त यह है कि—कोई भी दृष्टि अपनी प्रतिपक्षी दृष्टिका निराकरण नहीं कर सकेगी । इतना हो सकता है कि एक-अभेद अंशकी मुख्यता होनेपर दूसरी-भेददृष्टि गौण हो जाय । यही सापेक्षभाव नयका प्राण है । इस सापेक्षताके अभावमें नयदृष्टि सुनयरूप न रहकर दुर्नय बन जाती है । “सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः” यह स्पष्ट ही कहा है ।

इस संक्षिप्त कथनमें यदि सूक्ष्मतासे देखा जाय तो दो प्रकारकी दृष्टियाँ ही मुख्यरूपसे कार्य करती हैं—एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि । इन दृष्टियोंका आधार चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर

६४ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

कल्पना अभेद या भेद दो ही रूपसे की जा सकती है। उस कल्पनाका प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यों न हो। इन दो मूल आधारोंको द्रव्यनय और पर्यायनय नामसे व्यवहृत किया है। देश, काल तथा आकार जिस किसी भी रूपसे अभेद ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिक नय है। इन्हें मूलनय कहते हैं; क्योंकि समस्त विचारोंका मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादि नय तो इन्हींकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक, निश्चय-व्यवहार, शुद्धनय-अशुद्धनय आदि शब्द इन्हींके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

चूँकि नैगमनय संकल्पमात्रग्राही है, तथा संकल्प या तो अर्थके अभेद अंशको विषय करता है या भेद अंशको। इसीलिए अभेदसंकल्पी नैगमका संग्रहनयमें तथा भेदसंकल्पी नैगमका व्यवहारनयमें अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेनने नैगमनयको स्वतन्त्र नय नहीं माना है। इनके मतसे संग्रहादि छह ही नय हैं।

अकलंकदेवने नैगमनयको अर्थनय मानकर ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नयोंका अर्थनयरूपसे तथा शब्द आदि तीन नयोंका शब्दनयरूपसे विभाग किया है। नय तथा दुर्नयका निम्न लक्षण समझना चाहिए—भेदाभेदात्मक, उत्पादव्ययधौव्यरूप, समान्यविशेषात्मक पदार्थ अखण्डरूपसे प्रमाणका विषय होता है। उसके किसी एक धर्मको मुख्य तथा इतरधर्मोंको गौणरूपसे वियय करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय नय कहलाता है। जब वही अभिप्राय इतरधर्मोंको गौण नहीं करके उनका निरास करने लगता है तब वह दुर्नय कहलाता है। तात्पर्य यह कि—प्रमाणमें अनेकधर्मवाली पूर्ण वस्तु विषय होती है, नयमें एक धर्म मुख्यरूपसे विषय होकर भी इतरधर्मोंके प्रति उपेक्षा-गौणता रहती है, जबकि दुर्नय इतरधर्मोंका ऐकान्तिक निरास कर देता है।

नैगम-नैगमाभास—यद्यपि अकलंकदेवने राजवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिके अनुसार नैगमनयका 'सङ्कल्प-मात्रग्राही' यह ज्ञानाश्रितव्यवहारका समन्वय करनेवाला लक्षण किया है, पर लघीयस्त्रयमें वे नैगमनयको अर्थकी परिधिमें लाकर उसका यह लक्षण करते हैं—“गुण-गुणी या धर्म-धर्मोंमें किसी एकको गौण तथा दूसरेको मुख्यतासे ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे जीवके स्वरूपनिरूपणमें ज्ञानादिगुण गौण होते हैं तथा ज्ञानादिगुणोंके ही वर्णनमें जीव।” गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि—गुण-गुणीसे अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखता और न गुणोंकी उपेक्षा करके गुणी अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही समुचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, तथा सामान्य-विशेषमें भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे बिलकुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हों; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुण्यादिभाव नहीं बन सकेगा। अवयवी यदि अवयवोंसे सर्वथा पृथक् है; तो उसकी अपने अवयवोंमें वृत्ति—सम्बन्ध माननेमें अनेकों दूषण आते हैं। यथा—अवयवो अपने प्रत्येक अवयवोंमें यदि पूर्णरूपसे रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतन्त्र अवयवी सिद्ध होंगे। यदि एकदेश से रहेगा; तो जितने अवयव हैं अवयवोंके उतने ही देश मानना होंगे, उन देशोंमें भी वह 'सर्वात्मना रहेगा या एक देशसे' इत्यादि विकल्प होनेसे अनवस्था दूषण आता है।

सत्तासामान्यका अपनी व्यक्तियोंसे सर्वथा भेद माननेपर, सत्तासम्बन्धसे पहिले द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियोंको सत् माना जाय, या असत्? यदि वे असत् हैं; तो उनमें सत्तासम्बन्ध नहीं हो सकता। सत्ता सर्वथा असत् खरविषाणादिमें तो नहीं रहती। यदि वे सत् हैं; तो जिस प्रकार स्वरूपसत् द्रव्यादिमें सत्ता-सम्बन्ध मानते हो उसी तरह स्वरूपसत् सामान्यादिमें भी सत्तासम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अथवा जिस प्रकार सामान्यादि स्वरूपसत् हैं उनमें किसी अन्य सत्ताके सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं है, उसी तरह

द्रव्य, गुण, कर्मको भी स्वरूपसत् ही मानना चाहिए। स्वरूपसत्में अतिरिक्त सत्ताका समवाय मानना तो बिलकुल ही निरर्थक है। इसी तरह गोत्वादि जातियोंको शाबलियादि व्यक्तियोंसे सर्वथा भिन्न माननेमें अनेकों दूषण आते हैं। यथा—जब एक गौ उत्पन्न हुई; तब उसमें गोत्व कहाँसे आयगा? उत्पन्न होनेके पहिले गोत्व उस देशमें तो नहीं रह सकता; क्योंकि गोत्वसामान्य गोविशेषमें ही रहता है गोशून्य देशमें नहीं। निष्क्रिय होनेसे गोत्व अन्य देशसे आ नहीं सकता। यदि अन्य देशसे आवे भी, तो पूर्वपिण्डको एकदेशसे छोड़ेगा या बिलकुल ही छोड़ देगा? निरंश होनेके कारण एकदेशसे पूर्वपिण्डको छोड़ना युक्तिसंगत नहीं है। यदि गोत्व पूर्णरूपसे पूर्व गोपिण्डको छोड़कर नूतन गौमें आता है; तब तो पूर्वपिण्ड अगौ-गोत्वशून्य हो जायगा, उसमें गौ व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि गोत्वसामान्य सर्वगत है; तो गोव्यक्तियोंकी तरह अश्वादिव्यक्तियोंमें भी गोव्यवहार होना चाहिए।

अवयव और अवयवीके सम्बन्धमें एक बड़ी विचित्र बात यह है कि—संसार तो यह मानता है कि पटमें तन्तु, वृक्षमें शाखा तथा गौमें सींग रहते हैं, पर 'तन्तुओंमें पट, शाखाओंमें वृक्ष तथा सींगमें गौ' का मानना तो सचमुच एक अलौकिक ही बात है। अतः गुण आदिका गुणी आदिसे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही युक्तिसंगत है। कथञ्चित्तादात्म्यका तात्पर्य यह है कि—गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं उनसे भिन्न नहीं हैं। जो ज्ञानस्वरूप नहीं है वह ज्ञानके समवायसे भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है? यदि अज्ञ वस्तु भी ज्ञानके समवायसे 'ज्ञ' हो जाय; तो समवाय स्वयं 'ज्ञ' बन जायगा; क्योंकि समवाय आत्मामें ज्ञानका सम्बन्ध तभी करा सकता है जब वह स्वयं ज्ञान और आत्मासे सम्बन्ध रखे। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंसे असम्बद्ध रहकर सम्बन्धबुद्धि नहीं करा सकता। अतः यह मानना ही चाहिये कि—ज्ञानपर्यायवाली वस्तु ही ज्ञानके सम्बन्धको पा सकती है। अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे निरपेक्ष—सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

इसी तरह सांख्यका ज्ञान सुखादिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। वह मानता है कि—सत्त्वरजस्तमोरूप-त्रिगुणात्मक प्रकृतिके ही सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमें आविर्भूत तथा तिरोहित होते हैं। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप व्यक्त-कार्यकी दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप-अव्यक्तस्वरूपसे अदृश्य है। पुरुष चेतनरूप तथा कूटस्थ-अपरिणामी नित्य है। इस तरह वह चैतन्यसे बुद्धिको भिन्न समझकर उसे पुरुषसे भी भिन्न मानता है। उसका यह ज्ञान और आत्माका सर्वथा भेद मानना भी नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य तथा ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। बुद्धि, उपलब्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। यदि चैतन्य पुरुषका धर्म हो सकता है; तो ज्ञानको भी उसीका ही धर्म होना चाहिये। प्रकृतिकी तरह पुरुष भी ज्ञानादिरूपसे दृश्य होता है। 'सुख ज्ञानादिक सर्वथा अनित्य है, चैतन्य सर्वथा नित्य है' यह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है; क्योंकि पर्यायदृष्टिसे उनमें अनित्यता रहनेपर भी चैतन्यसामान्यकी अपेक्षा नित्यता भी है। इस तरह वैशेषिकका गुण-गुण्यादिमें सर्वथा भेद मानना तथा सांख्यका पुरुषसे बुद्ध्यादिका भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि इनमें अभेद अंशका निराकरण ही हो गया है।

संग्रह-संग्रहाभास—समस्त पदार्थोंको अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय संग्रहनय है। यह परसंग्रह तथा अपरसंग्रहके भेदसे दो प्रकारका है। परसंग्रहमें सत् रूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है, तथा अपरसंग्रहमें द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्वरूपसे समस्त गौओंका आदि। यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक कि भेद अपनी चरम कोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यव-

६६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

हारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्र नयके विषयभूत एक वर्तमान कालीन अर्थपर्याय तक पहुँचता है तब अपर-संग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। अपरसंग्रह और व्यवहारनयका क्षेत्र तो समान है पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें तद्गत अभेदांशके द्वारा संग्रहकी दृष्टि है तब व्यवहारनयमें भेदकी ही प्रधानता है। परसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्रूपसे सभी पदार्थ एक हैं उनमें कोई भेद नहीं है। जीव, अजीव आदि सभी सद्रूपसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने नीलादि अनेक आकारोंमें व्याप्त है उसी तरह सन्मात्रतत्त्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त है, जीव, अजीव आदि सब उसीके भेद हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्र द्रव्यको बिना जाने भेदोंको नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहिर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादिमें प्रवृत्ति करे या बाह्य नीलादि अचेतन पदार्थोंमें, वह सद्रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। संग्रहनयकी इस अभेददृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेद दृष्टि है। जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर वस्तुमें कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। इस सर्वथा भेददृष्टिके कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टिके विषयभूत पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक-अभेदके आधारपर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक वस्तु त्रिकालानुयायी होगी तभी वह नित्य कही जा सकती है। अवयवी तथा स्थूलांश दैशिक-अभेदके आधारसे माने जाते हैं; जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्त रहे तभी अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

अकलङ्कदेव कहते हैं कि—बौद्ध सर्वथा भेदात्मक स्वलक्षणका जैसा वर्णन करते हैं वैसा सर्वथा क्षणिक पदार्थ न तो किसी ज्ञानका विषय ही हो सकता है और न कोई अर्थक्रिया ही कर सकता है। जिस प्रकार एक क्षणिक ज्ञान अनेक आकारोंमें युगपद् व्याप्त रहता है उसी तरह एकद्रव्यको अपनी क्रमसे होने-वाली पर्यायोंमें व्याप्त होनेमें क्या बाधा है? इसी अनादिनिघन द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तुओंमें अभेदांशकी प्रतीति होती है। क्षणिक पदार्थमें कार्य-कारणभाव सिद्ध न होनेके कारण अर्थक्रियाकी तो बात ही नहीं करनी चाहिये। 'कारणके होनेपर कार्य होता है' यह नियम तो पदार्थको एकक्षणस्थायी माननेवालोंके मतमें स्वप्नकी ही चीज है; क्योंकि एक क्षणस्थायी पदार्थके सत्ताक्षणमें ही यदि कार्यकी सत्ता स्वीकार की जाय; तब तो कारण और कार्य एकक्षणवर्ती हो जायँगे और इस तरह वे कार्य-कारणभावको असंभव बना देंगे। यदि कारण-भूत प्रथमक्षण कार्यभूत द्वितीयक्षण तक ठहरे तब तो क्षणभंगवाद कहाँ रहा? क्योंकि कारणक्षणकी सत्ता कम-से-कम दो क्षण मानना पड़ी। इस तरह कार्यकारणभावके अभावसे जब क्षणिक पदार्थमें अर्थक्रिया ही नहीं बनती तब उसकी सत्ताकी आशा करना मृगतृष्णा जैसी ही है। और जब वह सत् ही सिद्ध नहीं होता तब प्रमाणका विषय कैसे माना जाय? जिस तरह बौद्धमतमें कारण अपने देशमें रहकर भी भिन्नदेशवर्ती कार्यको व्यवस्थित रूपसे उत्पन्न कर सकता है उसी तरह जब अभिन्न नित्य पदार्थ भी अपने समयमें रहकर कार्यको कार्यकालमें ही उत्पन्न कर सकता है, तब अभेदको असत् क्यों माना जाय? जिस तरह चित्रज्ञान अपने आकारोंमें, गुणी गुणोंमें तथा अवयवी अपने अवयवोंमें व्याप्त रहता है उसी तरह द्रव्य अपनी क्रमिक पर्यायोंको भी व्याप्त कर सकता है। द्रव्यदृष्टिसे पर्यायोंमें कोई भेद नहीं है। इसी तरह सन्मात्रकी दृष्टिसे समस्त पदार्थ अभिन्न हैं। इस तरह अभेददृष्टिसे पदार्थोंका संग्रह करनेवाला संग्रहनय है। इस नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि—विश्व एक है, अद्वैत है; क्योंकि सन्मात्रतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। यह ध्यान रहे कि—इस नयमें शुद्ध सन्मात्र विषय होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं है, भेद गौण अवश्य हो जाता है। यद्यपि अद्वयब्रह्मवाद भी सन्मात्रतत्त्व-को विषय करता है पर वह भेदका निराकरण करनेके कारण संग्रहाभास है। नय सापेक्ष-प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला, तथा दुर्नय निरपेक्ष-परपक्षका निराकरण करनेवाला होता है।

व्यवहार-व्यवहाराभास—संग्रहनयके द्वारा गृहीत अर्थमें विधिपूर्वक अविस्वादी-वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहार-विरुद्ध, वस्तुस्थितिकी अपेक्षा न करनेवाली भेदकल्पना व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द तथा ज्ञानरूपसे चलता है। जैसे जीवव्यवहार जीव अर्थ, जीवशब्द तथा जीवविषयक ज्ञान इन तीनों प्रकारोंसे हो सकता है। 'वस्तु उत्पादव्ययघ्नीव्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि वाक्य प्रमाणसे अविरोधी होनेके कारण तथा लोकव्यवहारमें अविस्वादी होनेसे प्रमाण हैं, एवं पूर्वापरके अविरोधी होनेसे ये सद्व्यवहारके विषय हैं। प्रमाणविरुद्ध कल्पनाएँ व्यवहाराभास हैं; जैसे सौत्रान्तिकका जड़या चेतन सभी पदार्थोंको क्षणिक, निरंश, परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, तथा माध्यमिकका सर्वशून्यता स्वीकार करना। ये सब व्यवहाराभास प्रमाणविरोधी तथा लोकव्यवहारमें विसंवादक होते हैं। जो भेदव्यवहार अभेदकी अपेक्षा रखेगा वही व्यवहारनयकी परिधिमें आयगा, तथा जो अभेदका निराकरण करेगा वह दुर्व्यवहार—व्यवहाराभास कहलायगा।

ऋजुसूत्र-तदाभास—ऋजुसूत्र नय पदार्थकी एक क्षणरूप शुद्ध वर्त्तमानकालवर्ती अर्थपर्यायको विषय करनेवाला है। इसकी दृष्टिमें अभेद कोई वास्तविक नहीं है। चित्रज्ञान भी एक न होकर अनेक ज्ञानोंका समुदायमात्र है। इस तरह समस्त जगत् एक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न है, एक पर्याय दूसरी पर्यायसे भिन्न है। यह भेद इतना सूक्ष्म है कि स्थूलदृष्टिवाले लोगोंको मालूम नहीं होता। जैसे परस्परमें विभिन्न भी वृक्ष दूरसे सघन तथा एकाकार रूपसे प्रतिभासित होते हैं, ठीक इसी तरह अभेद एक प्रातिभासिक वस्तु है। इस नयकी दृष्टिमें एक या नित्य कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि भेद और अभेदका परस्परमें विरोध है। इस तरह यह ऋजुसूत्र नय यद्यपि भेदको मुख्यरूपसे विषय करता है पर वह अभेदका प्रतिक्षेप नहीं करता। यह अभेदका प्रतिक्षेप कर दे तो बौद्धाभिमत क्षणिकतत्त्वकी तरह ऋजुसूत्राभास हो जायगा। सापेक्ष ही नय होता है। निरपेक्ष तो दुर्नय कहलाता है। जिस प्रकार भेदका प्रतिभास होनेसे वस्तुमें भेदकी व्यवस्था है उसी तरह जब अभेदका भी प्रतिभास होता है तो उसकी भी व्यवस्था होनी ही चाहिए। भेद और अभेद दोनों ही सापेक्ष हैं। एकका लोप करनेसे दूसरेका लोप होना अवश्यम्भावी है।

शब्द—काल, कारक, लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद द्वारा भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय है। शब्दनय के अभिप्रायसे अतीत, अनागत एवं वर्त्तमानकालीन क्रियाओंके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि कर्तृ-कर्मसाधनमें प्रयुक्त भी देवदत्त भिन्न-भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' आदि लिंगभेदसे प्रयोगमें आनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें प्रयुक्त देवदत्त भी पृथक्-पृथक् है। इसकी दृष्टिसे भिन्नकालीन, भिन्नकारकनिष्पन्न, भिन्न-लिङ्गक एवं भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थके वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए। वर्त्तना-परिणमन करनेवाला तथा स्वतः परिणमनशील द्रव्योंके परिणमनमें सहायक होनेवाला काल द्रव्य है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य, केवल शक्ति, तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष, तथा जिसमें ये दोनों सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहा जाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलनेपर षट्कारक रूपसे परिणमन कर सकती है। कालादिभेदसे एक द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। एकरूप—सर्वथा नित्य या अनित्य वस्तुमें ऐसा परिणमन नहीं हो सकता; क्योंकि—सर्वथा

नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग आदिकी व्यवस्था भी एकान्त पक्षमें नहीं हो सकती। इस तरह कालादिके भेदसे अर्थभेद मानकर शब्द नय उनमें विभिन्न शब्दोंका प्रयोग मानता है। कालादि भेदसे शब्द-भेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है।

समभिरूढ—एक कालवाचक, एक लिङ्गक तथा एक संख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंके द्वारा अर्थमें भेद मानता है। इस नयके अभिप्रायसे एक लिङ्गवाले इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी विभिन्नता होनेसे विभिन्नार्थवाचकता है। शक्रशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त शासनक्रिया, इन्द्रशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त इन्दनक्रिया तथा पुरन्दरशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त पूरदारणक्रिया है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक हैं। शब्दनयमें एकलिङ्गवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढ नयमें विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होनेसे एकलिङ्गक पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद होना अनिवार्य है। पर्यायवाची शब्दोंकी दृष्टिसे अर्थमें भेद नहीं मानना समभिरूढाभास है।

एवंभूतनय—क्रियाके भेदसे भी अर्थभेद माननेवाला एवंभूतनय है। यह नय क्रियाकालमें ही तत्क्रियानिमित्तक शब्दके प्रयोगको साधु मानता है। जब इन्द्र इन्दन-क्रिया कर रहा हो उसी समय उसे इन्द्र कह सकते हैं दूसरे समयमें नहीं। समभिरूढ नय उस समय क्रिया हो या न हो, पर अतीत-अनागत क्रिया या उस क्रियाकी योग्यता होनेके कारण तच्छब्दका प्रयोग मान लेता है। पर एवंभूतनय क्रियाकी मौजूदगीमें ही तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दके प्रयोगको साधु मानता है। इस नयकी दृष्टिसे जब कार्य कर रहा है तभी कारक कहा जायगा, कार्य न करनेकी अवस्थामें कारक नहीं कहा जा सकता। क्रियाभेद होनेपर भी अर्थको अभिन्न मानना एवंभूताभास है।

इन नयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् असत् दोनोंको विषय करता था इसलिए सन्मात्रग्राही संग्रह नय उससे सूक्ष्म एवं अल्पविषयक होता है। सन्मात्रग्राही संग्रहनयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एवं सूक्ष्म हुआ। त्रिकालवर्ती सद्विशेषग्राही व्यवहारनयसे वर्तमानकालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दभेद होनेपर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्रसे कालादिभेदसे शब्दभेद मानकर भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थभेदग्राही समभिरूढ अल्पविषयक एवं सूक्ष्मतर हुआ। क्रियाभेदसे अर्थभेद नहीं माननेवाले समभिरूढसे क्रियाभेद होनेपर अर्थभेदग्राही एवंभूत परमसूक्ष्म एवं अत्यल्पविषयक होता है।

४. निक्षेपरूपण

निक्षेप—अखण्ड एवं अनिर्वचनीय वस्तुको व्यवहारमें लानेके लिए उसमें भेद कल्पना करनेको निक्षेप कहते हैं। व्यवहार ज्ञान, शब्द तथा अर्थरूपसे तीन प्रकारका होता है। शब्दात्मक व्यवहारके लिए ही वस्तुका देवदत्त आदि नाम रखा जाना है। अतः शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए नाम निक्षेपकी सार्थकता है। ज्ञानात्मक-व्यवहारके लिए स्थापना निक्षेप तथा अर्थात्मक व्यवहारके लिए द्रव्य और भाव निक्षेप सार्थक हैं। शब्दका प्रयोग जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षासे होता है। जाति, द्रव्य, गुण आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न करके इच्छानुसार संज्ञा रखनेको नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी बालककी गजराज संज्ञामात्र इच्छानुसार ही की गई है, उसमें गजत्वजाति, गजके गुण, गजकी क्रिया आदिकी अपेक्षा नहीं है।

जिसका नामकरण हो चुका है उसकी उसी आकारवाली प्रतिमा या चित्रमें स्थापना करना सद्भाव या तदाकार स्थापना कहलाती है। तथा भिन्न आकारवाली वस्तुमें स्थापना करना असद्भाव या अतदाकार स्थापना कहलाती है, जैसे शतरंजके मुहरोंमें घोड़े आदिकी स्थापना। भविष्यत्कालीन राजपर्यायकी योग्यताके कारण या बीती हुई राजपर्यायका निमित्त लेकर वर्तमानमें किसीको राजा कहना द्रव्य निक्षेप है। तत्पर्यायप्राप्त वस्तुमें तत्त्व्यवहारको भावनिक्षेप कहते हैं, जैसे वर्तमान राजपर्यायवाले राजाको ही राजा कहना। अप्रस्तुत अर्थका निराकरण, प्रस्तुत अर्थका प्ररूपण एवं संशयविनाशनके लिए निक्षेपकी सार्थकता है। अव्युत्पन्न श्रोताकी अपेक्षा अप्रस्तुतका निराकरण करनेके लिए, व्युत्पन्नकी अपेक्षा यदि वह संशयित है तो संशयविनाशके लिए और यदि विपर्यस्त है तो प्रस्तुत अर्थके प्ररूपणके लिए निक्षेपकी सार्थकता है।

५. सप्तभंगीनिरूपण

सप्तभंगी—प्रश्नके अनुसार वस्तुमें प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं। विचार करके देखा जाय तो सप्तभंगीमें मूल भंग तो तीन ही हैं, बाकी भंग संयोगज हैं। आगम ग्रन्थोंमें 'सिय अत्थि, सिय णत्थि, सिय अवत्तव्वा' रूपसे तीन ही भंगोंका निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें हमें सात भंगोंके दर्शन होते हैं। अनेकान्तदृष्टिका उद्देश्य परस्पर विरोधी धर्मोंका समन्वय करना है। वस्तुतः विरोध तो दोमें ही होता है जैसे नित्यत्वका अनित्यत्वसे, भेदका अभेदसे इत्यादि। अतः पहिले तो परस्पर विरोधी दो धर्मोंके समन्वय करनेकी ही बात उठती है। ऐसे अनेक विरोधी युगल वस्तुमें रह सकते हैं अतः वस्तु अनेकान्तात्मक एवं अनन्तधर्मा कही जाती है। अवक्तव्य धर्म तो वस्तुकी वास्तविक स्थिति बतानेवाला है कि वस्तुका अखण्डआत्मरूप शब्दोंका विषय नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी अनिर्वचनीय, अखण्ड वस्तु को कहना चाहता है, वह पहिले उसका अस्तिरूपसे वर्णन करता है पर वस्तुके पूर्ण वर्णन करनेमें असमर्थ होनेपर नास्तिरूपसे वर्णन करता है। पर इस समय भी वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताकी सीमा तक नहीं पहुँच पाता। लिहाजा कोशिश करनेपर भी अन्तमें उसे अवक्तव्य कहता है। शब्दमें वस्तुतः इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह समग्रवस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करे। इसी अनिर्वचनीय तत्त्वका उपनिषदोंमें 'अस्ति अस्ति' रूपसे तथा 'नेति नेति' रूपसे भी वर्णन करनेका प्रयत्न किया गया है। पर वर्णन करनेवाला अपनी तथा शब्दकी असामर्थ्यपर खीज उठता है और अन्तमें वरवस कह उठता है कि—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिसके वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति वचन तथा मन भी नहीं कर सकते अतः वे भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा है वह वचन तथा मनका अगोचर अखण्ड, अनिर्वचनीय, अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इसी स्थितिके अनुसार अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य ये तीन ही मूल भंग हो सकते हैं। आगेके भंग तो वस्तुतः कोई स्वतन्त्र भंग नहीं हैं। कार्मिक भंगजालकी तरह द्विसंयोगीरूपसे तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ भंगका आविर्भाव हुआ तथा सप्तमभंगका त्रिसंयोगीके रूपमें। तीन मूल भंगोंके अपुनश्चत भंग सात ही हो सकते हैं। कहीं-कहीं अवक्तव्य भंगका नंबर तीसरा है और कहीं उभय भंगका। वस्तुतः अवक्तव्य मूल भंग है। अतः उसीका नंबर तीसरा होना चाहिये।

प्रथम भंगमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे वस्तुका अस्तित्व विवक्षित होता है। द्वितीय भंगमें परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तित्वकी विवक्षा होती है। यदि वस्तुमें स्वद्रव्यादिकी अपेक्षासे अस्तित्व न माना जाय तो वस्तु निःस्वरूप हो जायगी। और यदि परका नास्तित्व न माना जाय तो वस्तु सांकर्य हो जायगा; क्योंकि घटमें पटका नास्तित्व न रहनेके कारण घट और पट एक हो जाना अनिवार्य ही है। यद्यपि आपाततः यह मा लूम होता है कि स्वसत्त्व ही परासत्त्व है; पर विचार करनेसे मालूम हो जाता है कि ये दोनों

७० : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

एक दूसरेसे फलित न होकर स्वतन्त्र धर्म हैं; क्योंकि इनकी प्रवृत्तिकी अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं तथा कार्य भी भिन्न हैं ।

जब हम युगपद् अनन्तधर्मवाली वस्तुको कहना चाहते हैं तो ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जो ऐसी वस्तुके सभी धर्मोंका या विवक्षित दो धर्मोंका युगपत् प्रधान भावसे कथन कर सके । अतः कहनेकी अशक्ति होनेके कारण वस्तु अवक्तव्य है । वस्तुतः पदार्थ स्वरूपसे ही अनिर्वचनीय है और पदार्थकी उसी स्वरूपनिष्ठ अनिर्वाच्यताका द्योतन यह अवक्तव्य नामका तीसरा भंग करता है । संकेतके बलपर ऐसे किसी शब्दकी कल्पना तो की ही जा सकती है जो दो धर्मोंका भी एकरससे कथन कर सकता हो । अतः यह भङ्ग वस्तुके मौलिक वचनातीत पूर्णरूपका द्योतन करता है ।

चौथा अस्ति-नास्ति भंग—दोनों धर्मोंकी क्रमसे विवक्षा होनेपर बनता है । क्रमसे यहाँ कालिकक्रम ही समझना चाहिये । अर्थात् प्रथम समयमें अस्तिकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें नास्तिकी विवक्षा हो और दोनों समयोंकी विवक्षाको मोटी दृष्टिसे देखनेपर इस तृतीय भंगका उदय होता है । और यह क्रमसे अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों का प्रधानरूपसे कथन करता है ।

पाँचवाँ अस्ति-अवक्तव्य भंग—अस्तित्व और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें, अर्थात् प्रथम समयमें अस्तित्वकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा दोनों समयकी विवक्षाओंपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर अस्ति-अवक्तव्य भंग माना जाता है । यह क्रमसे अस्तित्व और अवक्तव्यत्वका प्रधानभावसे कथन करता है ।

छठवाँ नास्ति-अवक्तव्य भंग—नास्तित्व और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें । अर्थात् प्रथम समयमें नास्तित्वकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा दोनों समयोंकी विवक्षाओंपर व्यापकदृष्टि रखनेपर नास्ति-अवक्तव्य भंगकी प्रवृत्ति होती है । यह क्रमसे नास्तित्व और अवक्तव्यत्वका प्रधानभावसे कथन करता है ।

सातवाँ अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यभंग—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें, अर्थात् प्रथम समयमें अस्तित्वकी विवक्षा, दूसरे समयमें नास्तित्वकी विवक्षासे अस्तित्वनास्ति भंग बना, इसीके अनन्तर तृतीय समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा तीनों समयोंकी विवक्षाओंपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर अस्ति नास्ति-अवक्तव्य भंगकी सृष्टि होती है । यह क्रमसे अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्यत्व धर्मोंका प्रधानरूपसे कथन करता है ।

यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि—प्रत्येक भंगमें अपने धर्मकी मुख्यता रहती है तथा शेष धर्मोंकी गौणता । इसी मुख्य-गौणभावके सूचनार्थ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्, अर्थात् अमुक अपेक्षासे वस्तु इस रूप है । इससे दूसरे धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता । प्रत्येक भंगकी स्थिति सापेक्ष है और इसी सापेक्षताका सूचक 'स्यात्' शब्द होता है । सापेक्षताके इस सिद्धान्तको नहीं समझनेवालोंके लिए प्रत्येक भंगके साथ स्यात् शब्दके प्रयोगका नियम है; क्योंकि स्यात् शब्दके प्रयोग किए बिना उन्हें सन्देह हो सकता है । पर यदि वक्ता या श्रोता कुशल है तब इसके प्रयोगका नियम नहीं है; क्योंकि बिना प्रयोगके ही वे स्याच्छब्दके सापेक्षत्व अर्थको बुद्धिगत कर सकते हैं । अथवा स्पष्टताके लिए इसका प्रयोग होना ही चाहिए । जैसे 'अहम् अस्मि' इन दो पदोंमेंसे किसी एकका प्रयोग करनेसे दूसरेका मतलब निकल आता है, पर स्पष्टताके लिए दोनोंका प्रयोग किया जाता है । संसारमें समझदारोंकी अपेक्षा कमसमझ या नासमझोंकी संख्या औसत दर्जे अधिक रहती आई है । अतः सर्वत्र स्यात् शब्दका प्रयोग करना ही राजमार्ग है ।

स्यादस्ति-अवक्तव्य आदि तीन भंग परमतकी अपेक्षा भी इस तरह लगाये जाते हैं कि—अद्वैत-वादियोंका सन्मात्र तत्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि केवल सामान्यमें वचनकी प्रवृत्ति नहीं होती। बौद्धोंका अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है; क्योंकि शब्दके द्वारा मात्र अन्यका अपोह करनेसे किसी विधिरूप वस्तुका बोध नहीं हो सकेगा। वैशेषिकके स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति रूप—सामान्य विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य—शब्दके वाच्य नहीं हो सकते; क्योंकि दोनोंको स्वतन्त्र माननेसे उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकेगा। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेषमें शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती और न वैसी हालतमें कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकलादेश-विकलादेश—इन भंगोंका प्रयोग दो दृष्टियोंसे होता है—१—सकलादेशदृष्टि, जिसे स्याद्वादशब्दसे भी व्यवहृत किया गया है और यही प्रमाणरूप होती है। २—विकलादेशदृष्टि, इसे नय शब्दसे कहते हैं। एक धर्मके द्वारा समस्त वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करनेवाला सकलादेश है तथा उसी धर्मको प्रधान तथा शेष धर्मोंको गौण करनेवाला विकलादेश है। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थको ग्रहण करता है, जैसे 'जीवः' कहनेसे ज्ञानदर्शनादि असाधारण गुणवाले, सत्त्व-प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाववाले तथा अमूर्त्तत्व-असंख्यातप्रदेशित्व आदि साधारणासाधारण-धर्मशाली जीवका समग्र भावसे ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी धर्म एकरूपसे गृहीत होते हैं अतः यहाँ गौण-मुख्यविवक्षा अन्तर्लीन हो जाती है।

विकलादेश—नय एक धर्मका मुख्यतया कथन करता है। जैसे 'ज्ञो जीवः' कहनेसे जीवके ज्ञानगुणका मुख्यतया बोध होगा तथा शेषधर्म गौणरूपसे उसीके गर्भमें प्रतिभासित होंगे। एक धर्मका मुख्यतया बोध करानेके कारण ही वह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता है। नयमें भी स्यात् पदका प्रयोग किया जाता है और वह इसलिए कि—शेषधर्मोंकी गौणता उसमें सूचित होती रहे, उनका निराकरण न हो जाय। इसीलिए स्यात्पदलाञ्छित नय सम्यक् नय कहलाता है। 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीवका अखण्डभावसे बोध कराता है, अतः यह सकलादेशवाक्य है। 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यमें जीवके अस्तित्व धर्मका मुख्यतया कथन होता है अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। तात्पर्य यह कि सकलादेशमें धर्मिवाचक शब्दके साथ एवकारका प्रयोग होता है और विकलादेशमें धर्मिवाचक शब्दके साथ।

अकलंकदेवने राजवार्तिकमें दोनों वाक्योंका 'स्यादस्त्येव जीवः' यही उदाहरण दिया है और उनकी सकल-विकलादेशता समझाते हुए लिखा है कि—जहाँ अस्ति शब्दके द्वारा सारी वस्तु समग्रभावसे पकड़ ली जाय वहाँ सकलादेश, तथा जहाँ अस्तिके द्वारा अस्तित्वधर्ममुख्यक एवं शेषानन्तधर्मगौणक वस्तु कही जाय वह विकलादेश समझना चाहिए। इस तरह दोनों वाक्योंमें यद्यपि समग्र वस्तु गृहीत हुई पर सकलादेशमें सभी धर्म मुख्यरूपसे गृहीत हुए हैं जब कि विकलादेशमें एक ही धर्म मुख्यरूपसे गृहीत हुआ है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि—'जब सकलादेशका प्रत्येक भंग समग्र वस्तुका ग्रहण करता है तब सकलादेशके सातों भंगोंमें परस्पर भेद क्या हुआ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि सभी धर्मोंमें पूरी वस्तु गृहीत होती है सही, पर स्यादस्ति भंगमें अस्तित्व धर्मके द्वारा तथा स्यान्नास्ति भंगमें नास्तित्व धर्मके द्वारा। उनमें मुख्य-गौणभाव भी इतना ही है कि—जहाँ अस्ति शब्दका प्रयोग है वहाँ मात्र 'अस्ति' इस शाब्दिक प्रयोग हीकी मुख्यता है धर्मकी नहीं। शेषधर्मोंकी गौणताका तात्पर्य है उनका शाब्दिक अप्रयोग।

इस तरह अकलंकदेवने सातों ही भंगोंको सकलादेश तथा विकलादेश कहा है। सिद्धसेनगणि आदि अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य इन तीन भंगोंको एकधर्मवाली वस्तुको ग्रहण करनेके कारण विकलादेश तथा शेष भंगोंको अनेकधर्मवाली वस्तु ग्रहण करनेके कारण सकलादेश कहते हैं।

७२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

मलयगिरि आचार्यकी दृष्टिसे सब ही नय मिथ्यारूप हैं। इनका कहना है कि—यदि नयवाक्यमें स्यात् शब्दका प्रयोग किया जायगा तो वे स्याच्छब्दके द्वारा सूचित अनन्तधर्मोंके ग्राहक हो जानेके कारण प्रमाणरूप ही हो जायेंगे। अतः प्रमाणवाक्यमें ही स्याच्छब्दका प्रयोग उनके मतसे ठीक है नय वाक्यमें नहीं। इसी आशयसे उन्होंने अकलंकके मतकी ममालोचना को है। उपा० यशोविजयजीने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि—मात्र स्यात् पदके प्रयोगसे ही नयवाक्यमें प्रमाणता नहीं आ सकती; क्योंकि प्रमाणमें तो अनन्तधर्मोंका मुख्यनया ग्रहण होता है जबकि सुनयमें स्याच्छब्द-सूचित बाकी धर्म गौण रहते हैं आदि। अतः समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि द्वारा उपज्ञात यही व्यवस्था ठीक है कि—सापेक्ष नय सम्यक्, तथा निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं।

संशयादि दूषण—अनेकात्मक वस्तुमें संशयादि दूषणोंके शिकार जैन ही नहीं बने किन्तु इतर लोग भी हुए हैं। जैनकी तरह पातञ्जलमहाभाष्यमें वस्तुको उत्पादादिधर्मशाली कहा है। व्यासभाष्यमें परिणामका लक्षण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि—‘अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्ती धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः’ अर्थात् स्थिर द्रव्यकी एक अवस्थाका नाश होना तथा दूसरीका उत्पन्न होना ही परिणाम है। इसी भाष्यमें ‘सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य’ प्रयोग करके अर्थकी सामान्यविशेषात्मकता भी द्योतित की है। भट्टकुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकमें अर्थकी सामान्यविशेषात्मकता तथा भेदाभेदात्मकताका इतर-दूषणोंका परिहार करके प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने समन्तभद्रकी “घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्” (आप्तमी० का० ५९) जैसी—“वर्धमानकभंगेन रुचकः क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥” इत्यादि कारिकाएँ लिखकर बहुत स्पष्टरूपसे वस्तुके त्रयात्मकत्वका समर्थन किया है। भास्कराचार्यने भास्करभाष्यमें ब्रह्मसे अवस्थाओंका भेदाभेद समर्थन बहुत विस्तारसे किया है। कुमारिलानुयायी पार्थसारथिमिश्र भी अवयव-अवयवी, धर्म-धर्मी आदिमें कथञ्चित् भेदाभेदका समर्थन करते हैं। सांख्यके मतसे प्रधान एक होते हुए भी त्रिगुणात्मक, नित्य होकर भी अनित्य, अव्यक्त होकर भी व्यक्त आदि रूपसे परिणामी नित्य माना गया है। व्यासभाष्यमें ‘त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्’ लिखकर वस्तुकी नित्यानित्यात्मकता द्योतित की है। इस संक्षिप्त यादीसे इतना ध्यानमें आ जाता है कि जैनकी तरह कुमारिलादि मीमांसक तथा सांख्य भेदाभेदवादी एवं नित्यानित्यवादी थे।

दूषण उद्भावित करनेवालोंमें हम सबसे प्राचीन बादरायण आचार्यको कह सकते हैं। उन्होंने ब्रह्म-सूत्रमें ‘नैकस्मिन्नसंभवात्’—एकमें अनेकता असम्भव है—लिखकर सामान्यरूपसे एकानेकवादियोंका खंडन किया है। उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थोंमें धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकमें सांख्यके भेदाभेदमें विरोध उद्भावन करके ‘एतेनैव यदह्नीकः’ आदि लिखते हैं। तात्पर्य यह कि धर्मकीर्तिका मुख्य आक्षेप सांख्यके ऊपर है तथा उन्हीं दोषोंका उपसंहार जैनका खंडन करते हुए किया गया है। धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमि जहाँ भी भेदाभेदात्मकताका खंडन करते हैं वहाँ ‘एतेन जैनजैमिनीयैः यदुक्तम्’ आदि शब्द लिखकर जैन और जैमिनिके ऊपर एक ही साथ प्रहार करते हैं। एक स्थानपर तो ‘तदुक्तं जैनजैमिनीयैः’ लिखकर समन्तभद्रकी आप्तमीमांसका ‘सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्त्यापोहव्यतिक्रमे’ यह कारिकांश उद्धृत किया है। एक जगह दिगम्बरका खंडन करते हुए ‘तदाह’ करके समन्तभद्रकी ‘घटमौलिसुवर्णार्थी, पयोत्रतो न दध्यत्ति, न सामान्यात्मनोदेति’ इन तीन कारिकाओंके बीचमें कुमारिलकी “न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्। स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥” यह कारिका भी उद्धृत की है। इससे मालूम होता है कि बौद्ध ग्रन्थकारोंका

प्रहार भेदाभेदात्मक अंशमें सांख्यके साथ ही साथ जैन और जैमिनिपर समानरूपसे होता था। उनका जैनके नामसे कुमारिलकी कारिकाको उद्धृत करना तथा समन्तभद्रकी कारिकाके ऊपर जैनके साथ जैमिनिका भी प्रयोग करना इस बातको स्पष्ट बतलाता है कि उनकी दृष्टिमें जैन और जैमिनिमें भेदाभेदात्मक माननेवालोंके रूपसे भेद नहीं था। तत्त्वसंग्रहकारने तो 'विप्रनिग्रन्थकापिलैः' लिखकर इस बातको अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

संशयादि आठ दूषण अभी तक किसी ग्रन्थमें एक साथ नहीं देखे गए हैं। शांकरभाष्यमें विरोध और संशय इन दो दूषणोंका स्पष्ट उल्लेख है, तत्त्वसंग्रहमें सांकर्य दूषण भी दिया गया है। बाकी प्रमाण-वाक्तिक आदिमें मुख्यरूपसे विरोध दूषण ही दिया गया है। वस्तुतः समस्त दूषणोंका मूल आधार तो विरोध ही है। हाँ, स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७३८) में नैयायिककी एक कारिका 'तदुक्तम्' करके उद्धृत की है—

“संशयविरोधवैयधिकरण्यसंकरमथोभयं दोषः। अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्त दोषाः स्युः ॥”

इस कारिकामें एक साथ सात दूषण गिनाए गए हैं। आठ दूषणोंका परिहार भी सर्वप्रथम अकलंकने ही किया है। उन्होंने लिखा है कि—जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक विरोधी रंगोंको युगपत् धारण करता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मोंको धारण कर सकती है। इसी मेचकरत्नके दृष्टान्तसे संशयादि दोषोंका परिहार भी किया है। सामान्य-विशेषका दृष्टान्त भी इसी प्रसंगमें दिया है—जैसे पृथिवीत्व जाति पृथिवीव्यक्तियोंमें अनुगत होनेसे सामान्यरूप होकर भी जलादिसे व्यावर्तक होनेके कारण विशेषात्मक है और इस तरह परस्पर विरोधी सामान्य-विशेष उभय रूपोंको धारण करती है, उसी तरह समस्त पदार्थ एक होकर भी अनेकात्मक हो सकते हैं। प्रमाणसिद्ध वस्तुमें विरोधादि दोषोंको कोई स्थान ही नहीं है। जिस प्रकार एक वृक्ष अवयवविशेषमें चलात्मक तथा अवयवविशेषकी दृष्टिसे अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा एकदेशेन लालरंगका तथा दूसरे देशमें अन्य रंगका, एकदेशेन ढँका हुआ तथा अन्यदेशसे अनावृत, एकदेशेन नष्ट तथा दूसरे देशसे अनष्ट रह सकता है, उसी तरह एक वस्तु भी अनेकधर्मवाली हो सकती है।